जानने की
कहानियां

जानने की कहानियां

ज्ञान-विज्ञान-संबंधी बालोपयोगी कहानियां

janane ki kahaniyan

सत्यदेवनारायण सिन्हा

Satyadev Narayan Sinha

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
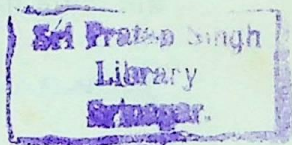
मूल्य : एक रुपया पचास पैसे
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक : राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स, दिल्ली

JANANE KI KAHANIYAN : CHILDREN STORIES
SATYADEV NARAYAN SINHA

क्रम

कागज़ की कहानी

यह कहानी उस वस्तु की है, जो ठीक इस समय आपकी आंखों के सामने है। वह कौन-सी वस्तु है ? कागज़! जिसपर यह किताब छपी है। कागज़ ही वह चीज़ है, जिसपर आप यह सब पढ़ रहे हैं। कागज़ आज के युग के लिए एक अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। इसके बिना हमारा बहुत-सा काम-काज ठप्प पड़ जाएगा। न हमें किताबें पढ़ने को मिलेंगी, न समाचारपत्र, और न कोई अन्य चीज़। एक तरह

से यह कहा जा सकता है कि कागज़ के बिना आजकल काम ही नहीं चल सकता।

कहा जाता है कि कागज़ का प्रचार मुसलमान शासकों ने ही किया है। उन्होंने भी कागज़ बनाने की कला चीनियों से सीखी। आज से करीब दो हज़ार वर्ष पहले चीन देश में, साई-लुन नामक वनस्पति-शास्त्र का एक विद्वान था। वह बराबर पेड़-पौधों के बारे में तरह-तरह की बातें जानने की कोशिश में लगा रहता था। एक दिन उसने एक शहतूत के पेड़ को तब तक छीला, जब तक उसमें से रेशे न निकलने लगे। इन रेशों को पानी में मिलाकर उसने खूब पीसा और जब उसकी एक लुगदी बन गई, तो उसने उसे एक चौखट में सूखने रख दिया। सूखकर वह लुगदी एक कठोर परत-सी बन गयी। फिर उसने उस परत को समतल कर दिया। इस प्रकार कागज़ का जन्म हुआ।

प्राचीन काल में हिन्दुस्तान में ताड़ के पत्तों और भोजपत्रों पर लिखने की प्रथा थी। दक्षिण भारत के पंडित लोग ताड़ के पत्तों पर संस्कृत के पवित्र ग्रन्थों को लिखते थे। अब भी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास आदि राज्यों में ताड़ के पत्तों पर हाथ की लिखी हुई संस्कृत पोथियां मिलती हैं। हमारे देश में आज भी

तावीज़ एवं जन्मपत्र आदि लिखने के लिए भोजपत्र एवं तालपत्र का व्यवहार होता है। नेपाल और कश्मीर में मुसलमानों के समय से पहले की हस्तलिखित कागज़ की पुरानी पोथियां पाई गई हैं। संभव है कि वहां चीन से ही कागज़ बनाने की कला आई हो।

जो भी हो, मुस्लिम शासन-काल में हाथ से बने कागज़ का व्यापार बड़ी उन्नति पर था। यह कागज़ बड़ा खुरदरा और भद्दा होता था, फिर भी इसकी खपत काफी थी। आजकल भी भारत के कई नगरों में मुसलमान लोग कागज़ बनाने का पेशा करते हैं। भद्दे और खुरदरे होने के बाद भी ऐसे कागज़ में एक ऐसा गुण था, जो आजकल के सस्ते, महीन और पतले कागज़ों में नहीं होता। आजकल जो कागज़ बाज़ारों में मिलते हैं, वे कुछ ही वर्षों के अन्दर खराब हो जाते हैं। उनका रंग बदल जाता है तथा उनको कीड़े से बचा रखना यदि असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य होता है। यही कारण है कि आज के बड़े-बड़े पुस्तकालयों में दीमक एवं झींगुरों से पुस्तकों को बचाने के लिए लोग सचेष्ट रहते हैं। पुराने ज़माने में बननेवाले कागज़ों में दीमक एवं झींगुर लगने का भय नहीं होता था और न वह कागज़ जल्द टूटता ही था; इसलिए हज़ारों वर्ष के प्राचीन

ग्रन्थ आज भी सुरक्षित हैं। इस तरह की प्राचीन पुस्तकें आपको किसी संग्रहालय में देखने को मिल सकती हैं।

भारतवर्ष में कागज़ बनाने की कला सैकड़ों वर्षों से चली आ रही है, पर बड़ी-बड़ी मशीनों के द्वारा कागज़ बनाने के कारखाने सौ वर्ष के भीतर के हैं।
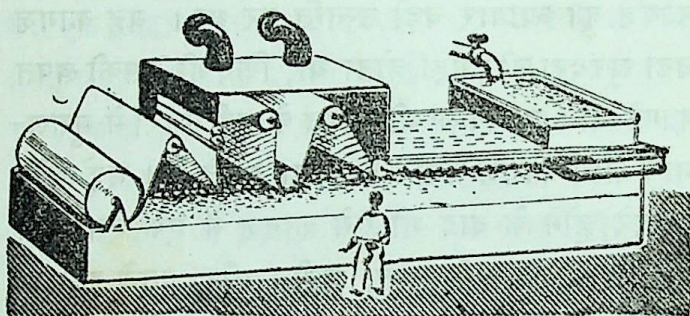
हमारे देश में टीटागढ़, लखनऊ, पूना आदि स्थानों में कागज़ के बड़े-बड़े कारखाने हैं। देश में कागज़ की खपत दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इसकी पूर्ति के लिए कागज़ के कई नये कारखाने खोले गए हैं।

इन कारखानों में लकड़ी, घास आदि को क्षार के सहारेगलाकर लुगदी बनाते हैं। धुली या बेधुली लुगदी को ही मशीन द्वारा फैलाकर और सुखाकर कागज़ बनाया जाता है। लकड़ी, घास आदि का जैसा रंग

होगा, लुगदी भी उसी रंग की बनेगी। अतः इसे सफेद बनाने के लिये एक तरह का, रंग काटने का मसाला व्यवहार में लाया जाता है। हल्के क्षार के द्वारा भी लुगदी को धोकर उजला बनाया जाता है। लुगदी उजली रहने पर कागज़ भी उजले रंग का बनता है। इस काम में काफी मेहनत करनी पड़ती है, इसलिए मेहनत से बचने के लिए कुछ वर्ष पहले तक हमारे देश के कारखाने विदेशों से बनी-बनाई, और धुली-धुलाई लुगदी मंगवा लिया करते थे। दूसरे महायुद्ध के समय लुगदी मंगाने में बड़ी कठिनाइयां आने लगीं, तब क्षार और धोबिया चूर्ण (ब्लीचिंग पाउडर) के सहारे लुगदी को साफ किया जाने लगा।

लुगदी का उपयोग कागज़ बनाने के सिवा अन्य कामों में भी होता है, जैसे कचकड़ा, नकली रेशम इत्यादि बनाने में। आजकल हमारी देशी मिलों में भी साबई, भावर एवं मूंज नामक घासों से लुगदी बनती है। ये घासें बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश आदि राज्यों में पाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त चीथड़े, खराब जूट और एस्पाटो घास की भी लुगदी बनती है और अब हमारे देश से लुगदी बाहर भी भेजी जाने लगी है। पुरानी रस्सी और रद्दी कागज़ों से भी

लुगदी बनायी जाती हैं। आजकल संसार में नब्बे प्रतिशत पेड़ों के रेशे से, और शेष तरह-तरह की वनस्पतियों से लुगदी तैयार की जाती है। कौन जाने, आगे चलकर किन पदार्थों से लुगदी बनने लगे और फिर इस लुगदी के सहारे कितने पदार्थ बनने लगें।

कुछ वर्ष पहले तक कपास के डंठलों को कोई पूछता नहीं था। परन्तु वैज्ञानिकों ने इसके डंठलों के रेशे से लुगदी द्वारा कागज़ बनाकर यह सिद्ध कर दिया कि कपास के डंठलों का व्यवहार कागज़ बनाने में किया जा सकता है। साधारण लकड़ी की अपेक्षा इन डंठलों के रेशे बहुत मज़बूत होते हैं। इससे यह अनुमान किया गया कि इससे बना हुआ कागज़ मुटाई और वज़न के लिहाज़ से, मामूली कागज़ से अधिक मज़बूत और स्थायी होगा।

यह तो हुई कागज़ की वह कहानी, जिससे कागज़ बनता है। अब आप देखिए कि संसार में लिखने एवं छापने के सिवा भी कागज़ से सैकड़ों काम लिए जाते हैं। इंग्लैंड में कागज़ की बहुत चीज़ें बनने लगी हैं, मुख्यतः रस्सी और रेशम। कागज़ की रस्सियां व्यापार में बहुत चलती हैं। बोरे बनाने के लिए भी कागज़ एक नया पदार्थ है। कागज़ से बने बोरे पाट के बने बोरों

की बराबरी करते हैं। जर्मनी में कागज़ के जूतों का बहुत प्रचलन है। ये जूते गरम और सुन्दर होते हैं। ये बटे हुए कागज़ के बारीक तारों से बुने हुए होते हैं। इनकी बनावट उसी तरह की होती है जैसी टोपियों की। जर्मनी में ही अब लोग लोहे की नली की जगह कागज़ की नली व्यवहार में लाते हैं।

अमेरिका में दरी और चटाइयों की सामग्री कम हो गई है। वहां बटे हुए कागज़ की दरी और चटाइयां बनती हैं। बिछावन के ऊपर बिछाने की चादर भी कागज़ की बनती है। अब तो वहां की दुकानों में कुर्सी, मेज़, कौच, आलमारी आदि ही नहीं, बल्कि पूरे मकान, दीवारें और खिड़कियां आदि सब कागज़ के बने पाए जाते हैं। कागज़ की बनी टोकरियां काफी मज़बूत और टिकाऊ होती हैं। कागज़ से बनी टोपियों का प्रचार इंगलैण्ड में बहुत है। ये बहुत सुन्दर होती हैं और कई प्रकार की बनाई जाती हैं। टोपियों के चारों ओर तार लगा देते हैं जिससे उनकी शक्ल ज्यों की त्यों बनी रहे।

कागज़ को पढ़कर या उसे प्रयोग में लाकर हम उसे फेंक देते हैं पर कागज़ कभी रद्दी नहीं होता। कभी-कभी तो रद्दी कागज़ अपने वज़न से अधिक मूल्य-वान होता है, और लड़ाई के ज़माने में रद्दी कागज़

से गोला-बारूद तक तैयार होता था।

देश में बढ़ती हुई अखबारी कागज़ की खपत को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने नेपा मिल नामक अखबारी कागज़ का कारखाना खोला है। यह मध्य-प्रदेश में चांदनी के निकट नेपानगर में स्थित है। यहां पहले-पहल सलई की लकड़ी का उपयोग अखबारी कागज़ बनाने में किया गया था। इस मिल में ११ जनवरी, १९५५ से कागज़ बनना शुरू हुआ और आजकल यहां प्रतिदिन लगभग एक सौ टन कागज़ बन रहा है। आजकल देश में प्रतिवर्ष अस्सी हज़ार टन अखबारी कागज़ की खपत होती है। अखबारी कागज़ की मांग को दृष्टि में रखते हुए अभी देश में तीस-तीस हज़ार टन कागज़ बनानेवाले दो और कारखाने खोलने की गुंजाइश है।

मेले-तमाशों में रंग-बिरंगे गुब्बारों को बिकते देखकर किस बच्चे का दिल उन्हें लेने के लिए मचल न उठता होगा। बच्चों के प्रिय खिलौनों में गुब्बारा अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। बड़े प्रेम से वे गुब्बारों में फूंक लगाते हैं, उन्हें हवा में उछालते हैं और उनसे तरह-तरह की आकृतियां बनाते हैं।

लेकिन आपने कभी यह सोचा है कि ये गुब्बारे किस चीज़ से और किस तरह बनते हैं। आपको गुब्बारों की बनावट पर आश्चर्य होता है या नहीं ? तो लीजिए, गुब्बारों की कहानी पढ़कर उनके बारे में सारी बातें जान लीजिए।

गुब्बारे बनाने का कारखाना कोई बहुत बड़ा नहीं होता। एक छोटे-से मकान में भी गुब्बारे बनाने का

कारखाना खोला जा सकता है। दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता आदि जगहों में गुब्बारे बनाने के कई कारखाने हैं। गुब्बारे बनाने का कारखाना खोलने के लिए कम से कम तीन हज़ार रुपयों की पूंजी चाहिए। इतने रुपये लगाकर कोई भी व्यक्ति, एक छोटे-से मकान में ही गुब्बारे बनाने का कारखाना खोल सकता है।

गुब्बारा जिस चीज़ से बनता है, उसका नाम है---लेटेक्स-३५। यह ३५ नम्बर का लेटेक्स एक पतले किस्म का रबड़ होता है जिसका रंग सफेद होता है। यह रबड़ ट्रावनकोर के कोटायम नामक स्थान से ३५, ४५, एवं एक सौ गैलन के बड़े-बड़े पीपों में भरकर गुब्बारे बनाने के कारखानों में भेजा जाता है।

पीपे से रबड़ को निकालकर कारखाने में इसे एक विशेष तापमान पर पिघलाया जाता है। रबड़ को पिघलाने के लिए बिजली काम में लाई जाती है। रबड़ पिघलाने की इस क्रिया को 'गर्म स्नान की क्रिया' (हॉट बाथ प्रोसेस) कहा जाता है। गर्म स्नान की यह क्रिया तीन घंटे तक चलती है।

'गर्म स्नान की क्रिया' के बाद पिघले हुए लेटेक्स को 'शीतल स्नान की क्रिया' (कोल्ड बाथ प्रोसेस) में लाया जाता है। यह 'शीतल स्नान की क्रिया'

पिघले हुए रबड़ को साफ करती है। 'गर्म स्नान की क्रिया' की तरह तीन घंटे तक 'शीतल स्नान की क्रिया' भी होती है। इस तरह दोनों क्रियाओं की छः घंटे की अवधि के बाद लेटेक्स नामक रबड़ पानी की तरह पतला हो जाता है और उसके अन्दर की रही-सही खराबियां निकल जाती हैं। इन दोनों क्रियाओं के बाद ही रबड़ गुब्बारे बनाने के लायक हो पाता है। जिस समय ये दोनों क्रियाएं होती रहती हैं, उस समय रबड़ में में से एक किस्म की तेज़ बू आती है। अगर आप थोड़ी देर इस पिघले हुए रबड़ के पास खड़े रहें, तो आपका सिर चकराने लगेगा।

रबड़ जब पानी की तरह पतला और बिल्कुल साफ हो जाता है, तो इसमें रंग की मिलावट की जाती है, जैसे लाल, पीला, हरा, नीला आदि।

रंगों की मिलावट के बाद इस पतले रबड़ को शीशे या चीनी मिट्टी के एक बड़े बर्तन में रख दिया जाता है। गुब्बारे बनाने के सांचों को, जो चिकनी एवं कड़ी लकड़ी के बने होते हैं, पहले क्षार के बर्तन में और बाद में उस पतले रबड़ में डुबोया जाता है। इन लकड़ी के सांचों पर पतले रबड़ की हल्की-सी एक तह जम जाती है।

अब इन सांचों को धूप में अथवा गर्म कमरे में सूखने के लिए रख दिया जाता है। जब ये आधे गीले रहते हैं, तो उसी समय इनपर तरह-तरह के चित्र बनाए जाते हैं। गुब्बारों के अच्छी तरह सूख जाने पर इन्हें सांचों से अलग कर दिया जाता है और तब इन्हें अलग-अलग रंग, आकार एवं चित्र के मुताबिक छांट लिया जाता है। इन गुब्बारों में कुछ टेढ़े-मेढ़े, फटे या खराब भी होते हैं, जिन्हें एक प्रकार के शीशे से देख-देखकर अलग कर दिया जाता है क्योंकि कारखाने में बने सभी गुब्बारे अच्छे नहीं बन पाते।

बढ़िया गुब्बारों को एक किस्म के पाउडर में, जो सिगरहट पत्थर का बना होता है, डाल दिया जाता है। इस पाउडर के कारण गुब्बारों से क्षार की गंध कुछ कम हो जाती है। बच्चों ने गुब्बारा फूंकते समय देखा होगा कि उसमें से एक प्रकार की गंध आती है। यह गंध उसी क्षार की होती है।

अब बढ़िया गुब्बारों को तौलकर या गिनकर कागज़ के बने थैलों में बंद कर दिया जाता है। हर थैले में एक ग्रोस अर्थात् एक सौ चवालीस गुब्बारे होते हैं। इन कागज़ के थैलों को थोक व्यापारियों के पास भेजा जाता है, जहां से ये व्यापारी खुदरा दुकानदारों को

देते हैं और तब गुब्बारे बेचनेवाले इन गुब्बारों से तरह-तरह की चीज़ें, जैसे आदमी, फूलदान, लालटेन, टेबल-लैम्प, जानवर आदि बनाकर बेचते हैं।

मैं समझता हूं अब बच्चे जब भी गुब्बारा खरीदेंगे, तो उन्हें गुब्बारों की कहानी याद आ जाएगी और वे यह समझ सकेंगे कि कितनी मेहनत के बाद गुब्बारा उनके हाथों में आया है।

यह तो हुई उन गुब्बारों की कहानी जिनसे बच्चे खेलते हैं। अब ज़रा उन गुब्बारों के विषय में पढ़िए जिनके द्वारा विदेशों के कई व्यक्तियों ने आकाश में उड़ान की थी। वायुयान के आविष्कार में गुब्बारों के द्वारा ही सफलता मिली है।

फ्रांस के एक गांव 'आनोने' में दो भाई रहते थे जिनका नाम था जोज़ेफ और जैक्स मोंगोलफिये। ये दोनों भाई कागज़ के लिफाफे बनाकर अपना गुज़ारा चलाते थे। एक दिन इन्होंने बादलों की टुकड़ी को आसमान में बहते देखकर सोचा कि यदि इसी प्रकार की कोई गैस किसी कागज़ के थैले में भर दी जाए, तो उसके लिए भी इन बादलों की टुकड़ियों के समान तैरना संभव हो सकता है। १७८२ ई० में दोनों भाइयों ने कागज़ के एक लिफाफे में धुएं को भरा जिसके कारण

लिफाफा आकाश की ओर उठा। इस प्रयोग से उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

१७८३ ई० में उन्होंने अपने इस प्रयोग का फ्रांस की जनता के समने प्रदर्शन किया। सौ फुट परिधि का कागज़ का एक पुतला, जिसका वज़न पांच सौ पौंड था, एक पैंतीस फीट ऊंचे खम्भे के सथ बांध दिया गया। पुतले के निचले हिस्से में एक छेद था। इस छेद के द्वारा उस पुतले में धुआं भरा गया। धुआं भरने के कारण वह पुतला एक बड़े गुब्बारे की शक्ल में बदल गया और दस मिनट से कम समय में ही ६ हज़ार फुट को ऊंचाई तक गया। बाद में इस प्रकार के गुब्बारों को मोंगोलफिये अथवा अग्नि गुब्बारा का नाम दिया जाने लगा और हाइड्रोजन गैस से भरे गुब्बारे गैस के गुब्बारे कहे जाने लगे।

गुब्बारे के इस प्रयोग से फ्रांस में हलचल मच गई, क्योंकि वहां के लोगों के लिए यह एक सर्वथा नयी चीज़ थी। कागज़ के गुब्बारों की जगह धीरे-धीरे सिल्क के गुब्बारे बनने लगे। २३ अगस्त, १७८३ ई० को १०५ फुट परिधि के सिल्क के एक गुब्बारे में हाइड्रोजन गैस भरकर मोंगोलफिये की देख-रेख में वह छोड़ा गया जो तीन हज़ार फुट तक ऊपर की ओर

गया और ४५ मिनट तक हवा में रहने के बाद १५ मील की दूरी पर जाकर गिरा। इस प्रयोग को देखने के लिए उस दिन इतनी भीड़ इकट्ठी हुई जितनी कभी भी किसी समारोह में नहीं हुई थी। जहां यह गुब्बारा गिरा, वहां के लोग इतना डर गए कि गुब्बारे को दैत्य समझकर हथियारों से उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए।

१७८३ ई० की १९ सितम्बर को फ्रांस के राजा के अनुरोध पर दोनों भाइयों ने सिल्क के अग्नि गुब्बारे से लटकती टोकरी में पहली बार एक भेड़, एक बतख और मुर्गे को रखकर उसका प्रदर्शन किया। तीनों जीवों को लेकर वह गुब्बारा आकाश में डेढ़ हज़ार फुट तक गया और दो मील की दूरी तय करके एक जंगल में जा गिरा। राजा के सामने यह प्रदर्शन करने पर दोनों भाइयों को काफी पुरस्कार मिला। इन सफलताओं के बाद गुब्बारों में कैदी को भेजने की योजना बनाई गई। इसके साथ यह शर्त रखी जाने लगी कि कैदी जीवित बच जाए, तो उसे मुक्त कर दिया जाए।

परन्तु उसी शहर के रोज़िये नामक वैज्ञानिक को यह अच्छा न लगा कि एक कैदी आकाश में उड़े। रोज़िये ने १५ अक्टूबर, १७८३ ई० को पहली बार एक

गुब्बारे द्वारा आकाश में ८० फुट तक उड़ान की और संसार में पहली बार उड़ान करने का श्रेय प्राप्त किया। २१ नवम्बर, १७८३ को अपने एक मित्र के साथ रोज़िये ने फिर आकाश में ३०० फुट की ऊंचाई और साढ़े पांच मील की दूरी तक २५ मिनट में उड़ान की। मनुष्य के वायु में पहली बार उड़ान करने का श्रेय इस प्रकार मोंगोलफिये गुब्बारों अर्थात् अग्नि गुब्बारों को ही मिला।
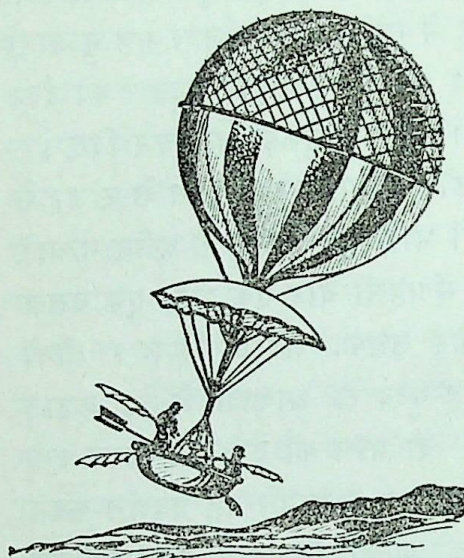
१७८३ ई० के दिसम्बर से ऐसे गुब्बारों में धुएं की जगह गैस का प्रयोग होने लगा। गैस से भरे गुब्बारे द्वारा पहली बार करीब चार लाख लोगों के सामने चार्ल्स और राबर्ट नामक दो व्यक्तियों से अपनी उड़ान की। जून, १७८४ में स्वीडन के राजा के सामने श्रीमती

तिबल ने एक अग्नि गुब्बारे में लिओन में उड़ान की। यह पहली महिला थी, जिसने पहली बार गुब्बारे द्वारा वायु में उड़ान की।

फ्रांस के बाद इंगलैंड में भी गुब्बारे द्वारा उड़ान की जाने लगी। १७८४ ई० की १५ सितम्बर को इटली-निवासी लुनार्डि ने एक बहुत बड़े मैदान से गुब्बारे द्वारा अपनी उड़ान की। इस उड़ान को देखने के लिए पांच शिलिंग, एक गिनी और आधी गिनी के टिकट लगाए गए थे। इस उड़ान में लुनार्डि ने अपने साथ एक कुत्ता, एक बिल्ली और एक कबूतर भी रख लिया था। इस प्रकार पहली उड़ान में ही लुनार्डि ने गुब्बारे द्वारा २५ मील के लगभग यात्रा की थी और टिकट की बिक्री द्वारा करीब चार हज़ार पौंड धन इकट्ठा कर लिया था।

गुब्बारों द्वारा इन सब उड़ानों की अपेक्षा ७ जनवरी, १७८५ को एक अमेरिकन डाक्टर जैफरिज ने सबसे महत्त्वपूर्ण उड़ान की। इन्होंने गुब्बारे में बैठकर इंग्लैंड और यूरोप के बीच के समुद्र को पार किया था। १७९४ ई० से गुब्बारे द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक सूचना भेजी जाने लगी। बाद में प्रथम महायुद्ध के समय में (१९१४ ई० से १९१८ ई० तक) गुब्बारे

द्वारा दुश्मनों पर विस्फोटक पदार्थ फेंके जाने लगे।

इस तरह धीरे-धीरे गुब्बारों को निश्चित समय, दूरी के हिसाब से नियंत्रित किया जाने लगा। दूसरे महायुद्ध के समय हवाई जहाज़ बन जाने से गुब्बारे की उपयोगिता कम हो गई। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि वैज्ञानिकों को हवाई जहाज़ बनाने में गुब्बारों से ही सफलता मिली है। अगर यह कहा जाए कि हवाई जहाज़ गुब्बारों की देन है, तो झूठ न होगा।

ऊपर बने चित्र को देखकर आप तुरंत पहचान गए होंगे कि यह एक छाता है। छाते का उपयोग अधिकतर धूप एवं पानी से बचने के लिए किया जाता है, यह भी आप जानते ही हैं। लेकिन शायद आपको छाते की कहानी नहीं मालूम होगी।

तो लीजिए, आज छाते की इस कहानी को पढ़िए। भारत में छाते को छत्र या छतरी भी कहा जाता है। लैटिन भाषा में छाते को 'अम्ब्रा' अर्थात् 'साया', अंग्रेज़ी में 'अम्ब्रेला', चीन में 'हती' या 'ती' एवं फारस देश में 'सायदान' कहते हैं। इंग्लैंड में जिस समय छाते का प्रचार हुआ, उस समय इसे 'राउंडल' (गोल चीज़) कहा जाता था। पश्चिमी देशों में आज से कई सौ वर्ष पहले छाते को 'बाल्डाक' भी कहा जाता था। बगदाद का नाम तो सुना ही होगा आप लोगों ने। बगदाद को पहले 'बाल्डाक' ही कहा जाता था।

छाते का सबसे पहले आविष्कार किसने किया, यह ठीक-ठीक बतलाना बड़ा कठिन है क्योंकि इसके आविष्कारक का कोई पता नहीं मिलता। फिर भी खोज करने से यह पता चला है कि आज से हज़ारों वर्ष पहले किसी कबीले के सरदार या उसके साथियों ने गर्मी की धूप या वर्षा से अपने सिर को बचाने के लिए ताड़ या केले के सूखे पत्तों की शरण ली होगी और समय के साथ यही सूखे पत्ते छाते के रूप में आए। आज भी चीन, बर्मा, स्याम के किसान एवं भारत के आदिवासी सूखे पत्तों या बांस के बने चटाईनुमा छतरीदार टोप पहनकर धूप और वर्षा से अपनी रक्षा करते हैं।

कुछ लोग खलीफा हारूं-अल-रशीद को छाते का आविष्कारक बताते हैं। कहते हैं कि सबसे पहले उन्होंने ही 'वल्डाकिन' नामक वस्तु की (जो छाते की तरह ही थी) भेंट यूरोप के सबसे बड़े पादरी पोप को दी थी। बाद में उन्होंने यही भेंट यूरोप के अन्य पादरियों तथा राजाओं को भी दी। वे लोग 'वल्डाकिन' का प्रयोग सिर्फ महत्त्वपूर्ण अवसरों पर सिर के ऊपर रखने के लिए करते थे। उस समय छाता राजाओं एवं धनी लोगों की वस्तु मानी जाती थी। साधारण आदमी

इसका प्रयोग बिल्कुल नहीं करते थे। जो कुछ भी कहा जाए मगर यह मानी हुई बात है कि छाते का आविष्कार सबसे पहले भारत में हुआ और यहीं से इसका प्रचलन दूसरे देशों में पहुंचा।

जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे छाते के रूप में परिवर्तन होता गया और समय के साथ वह राजा-महाराजाओं के राजसिंहासन पर छत्र के रूप में परिणत हो गया। राजाओं के छत्र कई प्रकार के होते थे। कहीं गोल, जो एक डंडे पर जड़ा होता था और कहीं चौकोर, चार डंडों पर। ये डंडे सोने-चांदी के होते थे और छत्र, रेशम, मखमल और कहीं-कहीं सोने-चांदी के बने होते थे, जिनपर जवाहिरातों का जड़ाऊ काम भी होता था। जब कभी राजा अपने राजमहल से बाहर पैदल या पालकी पर सवार होकर जाते थे, तो दास-दासियां उनके पीछे-पीछे इसी तरह के छत्र या छाते को लेकर चलते थे। मुगल बादशाहों के ज़माने में ऐसे छातों का प्रचलन खूब तेज़ी से हुआ क्योंकि वे लोग रेशमी छातों के शौकीन होते थे।

आप लोगों ने छत्रपति राजाओं का नाम सुना ही होगा। छत्रपति का अर्थ होता है—छत्र का मालिक। पुराने ज़माने में कई राजा छत्रपति कहलाने में गर्व

मानते थे और इसलिए वे बराबर पड़ोसी राजाओं से लड़ाई कर उन्हें अपनी छत्रछाया में लाना चाहते थे। महाभारत की लड़ाई में महारथी लोग अपने रथ में छाते का उपयोग करते थे जिसके कारण दुश्मन के बाणों से उनकी रक्षा होती थी। यहां तक कि रथ में जुते घोड़ों के सिर पर भी छोटे किस्म का छाता लगा दिया जाता था, ताकि उनकी आंख में तीर न लगे। घोड़े के सिर पर छाता लगा रहने के कारण लड़ाई में अस्त्रों की चमक से उनकी आंखों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

आज से कई सौ वर्ष पहले यूनान तथा रोम में छाते का प्रयोग केवल स्त्रियां ही करती थीं, क्योंकि

छाते को स्त्रियों के प्रयोग की वस्तु माना जाता था। आज भी जापान की महिलाएं कागज़ के बने सुन्दर छातों का व्यवहार करती हैं, जो पुरुषों के छातों से सर्वथा भिन्न होते हैं। सतरहवीं शताब्दी में संसार के प्रायः सभी देशों में छाते का प्रचलन फैल तो गया, फिर भी उस समय पुरुषवर्ग छाते को लेकर चलने में झिझकता था। अगर इंग्लैंड की सड़कों पर कोई आदमी छाता लगाकर चलता, तो लोग उसकी हंसी उड़ाया करते थे।

इंग्लैंड में सबसे पहले छाते को सार्वजनिक स्थान में लेकर घूमनेवाला व्यक्ति था—जान हान्वे। उसे छाता लेकर सड़क पर चलते समय लोग उसका खूब मज़ाक उड़ाया करते थे परन्तु वह किसीकी परवाह नहीं करता था। धीरे-धीरे अन्य पुरुषों ने भी छाते को अपनाया और समय पाकर इंग्लैंड में पुरुष भी छाते का प्रयोग उसी हद तक करने लगे जिस हद तक वहां की स्त्रियां किया करती थीं।

अठारहवीं शताब्दी के शुरू में इंग्लैंड के कारीगरों ने छाते को एक ऐसा रूप दिया जो अब तक कायम है। उस समय छाते पर विविध रंग के कपड़े लगाए जाते थे। परन्तु जब इसका रूप बदला तो, इसका रंग भी बदल गया और तब से छातों पर काले रंग का कपड़ा

व्यवहार में लाया जाता है। क्योंकि सूर्य की तेज़ किरणों का प्रभाव काले कपड़ों पर विशेष रूप से नहीं पड़ता।

आज छाता संसार के प्रत्येक देश के पुरुषों के दैनिक जीवन का एक अंग बन चुका है। आज वायुसेना में जिस पैराशूट या हवाई छतरी का प्रयोग होता है, वह छाते का ही एक विकसित रूप है।

भोर होते ही आपने बाग-बगीचों में पक्षियों का मधुर कलरव अवश्य सुना होगा। इनकी मीठी बोली से कौन प्रसन्न नहीं होता! पक्षियों के विविध रंग आपको कितने मनोहर लगते हैं। आकाश में इनके पंक्तिबद्ध होकर उड़ते समय की शोभा निराली होती है। इन्हीं पक्षियों को उड़ते देख मनुष्य ने सोचा होगा—'काश! हम लोग भी आकाश में उड़ा करते!' फलस्वरूप हवाई जहाज़ का आविष्कार किया गया और मनुष्य के आकाश में विचरण का स्वप्न पूरा हुआ। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस पृथ्वी की उत्पत्ति के समय पक्षी उड़ा नहीं करते थे, बल्कि अपने दोनों पैरों पर फुदकते रहते थे। उड़ने में असमर्थ होने के कारण अन्य जीव-जन्तु इन पक्षियों को पकड़-कर खा जाते थे। जिस रूप में आप आज पक्षियों को

देखते हैं, वैसा रूप पहले इनका नहीं था। धीरे-धीरे इनके रंग-रूप में परिवर्तन होता गया और आज इसी परिवर्तन का फल है कि हमें पक्षियों के विविध रंग-रूप देखने को मिलते हैं।

आज से हज़ारों वर्ष पहले पक्षी छिपकली की तरह होते थे। पंखों की जगह इनके बदन पर दो मोटी-मोटी मांस की परतें होती थीं। इनके शरीर पर पर भी नहीं होते थे। परों से ही पंख या डैना बनता है। उस समय पर नहीं होने के कारण पक्षियों को जाड़े के मौसम में काफी तकलीफ का सामना करना पड़ता था, क्योंकि परों के अभाव में इनके शरीर में गर्मी नहीं पहुंच सकती थी। अतः उस समय ठंड से बचने के लिए ये जाड़ों के दिनों में सदा छिपे रहते थे और सूर्य की रोशनी से गर्मी पाकर अपनी खुराक की तलाश में निकलते थे। छिपकली की तरह पूंछ पाकर ये उड़ भी नहीं सकते थे। इन लम्बी मांसदार पूंछों की जगह धीरे-धीरे पर निकलते गए और आज इनकी पूंछों में सिर्फ पर ही होते हैं, मांस नहीं। पक्षियों के लिए पूंछ का होना उतना ही आवश्यक है, जितना किसी नाव के लिए पतवार का होना, क्योंकि उड़ने की तेज़ और कम गति पूंछ पर ही निर्भर करती है।

चिड़ियों ने उड़ना कैसे सीखा ?—इस बारे में यही अनुमान लगाया गया है कि जब कोई जीव इन्हें पकड़ने की चेष्टा करता होगा, तो ये अपने दोनों पैरों पर फुदकती हुई भाग खड़ी होती होंगी। भागते समय इनके दोनों बगल में जो मांस की मोटी परत होती थी, उससे इन्हें दो-चार फुट कूदने में सहायता मिलती थी। धीरे-धीरे इन मांस की परतों पर पर निकले। परों के निकलने से मांस की मोटी परत पंख या डैने के रूप में बदल गई। ऐसा एक दिन या एक-दो वर्ष के अन्दर नहीं हुआ। पक्षियों को अपने इस रूप में आने में हज़ारों वर्ष लगे। आज अपने रंगीन परों और सुन्दर डैनों के अतिरिक्त अपनी मीठी बोली के कारण पक्षी मनुष्यों का प्रिय मित्र है, तभी तो लोग बड़े प्रेम से पक्षियों को पालते हैं।

पर चिड़ियों की पोशाक की तरह हैं। परों के विविध रंगों से हम पक्षियों की पहचान करते हैं। मोर तोते, कोयल, कौए आदि को हम उनके परों को देखते ही पहचान लेते हैं। जिस तरह वसन्त ऋतु में पेड़ों में पुरानी पत्तियों की जगह नई पत्तियां निकलती हैं, उसी तरह साल में एक या दो बार पक्षी भी अपने पुराने परों की जगह नये परों को प्राप्त करते हैं।

ऐसा अधिकतर जाड़े के मौसम के पहले होता है, क्योंकि ठंड से बचने के लिए पक्षियों के पर वस्त्र का काम देते हैं। इन्हीं परों की बदौलत इनके शरीर में गर्मी आती है। अगर आप गौर से देखें, तो पाएंगे कि जिस जगह के आसपास ये अपना निवास बनाते हैं, इनके परों का रंग भी वैसा ही होता है, जिससे दुश्मनों की नज़र जल्द इनपर नहीं पड़ती। तीतर पहाड़ी प्रदेश में पाया जाता है, इसलिए इसका रंग लाल मिट्टी की तरह का होता है। हरे पेड़ों के बीच अपना निवास बनाने के कारण तोता हरे रंग का होता है। इसके अंडों के रंग में भी यही बात होती है। कहीं-कहीं इसका अपवाद भी पाया जाता है, परन्तु ऐसा बहुत ही कम होता है कि पक्षी अपने आस-पास की चीज़ों के रंग से मिलते-जुलते न हों।

पक्षी उड़ते कैसे हैं? जिस तरह पानी में तैरते समय मनुष्य हाथ-पांव मारता है, उसी तरह पक्षी भी अपने आगे, पीछे और नीचे पंख मारते हैं, तभी ये जिधर चाहते हैं, उधर उड़ते हैं। जैसाकि कहा जाता है कि पक्षी अपने पंखों को सिर्फ नीचे-ऊपर करते हैं और ऐसा करने से ही उड़ते हैं, तो ऐसा सोचना गलत होगा। सिर्फ ऊपर-नीचे पंख मारने से तो आगे

बढ़ने की बजाय ये उसी जगह उलटकर गिर जाएंगे। उड़ते समय इनकी पूंछ पतवार का काम करती है। पूंछ को फैलाकर या एक सीध में रखकर, पक्षी अपने उड़ने की दिशा में परिवर्तन किया करते हैं। जब इन्हें तेज़ी से उड़ना होता है, तो ये अपनी पूंछ को एक सीध में रखते हैं। पूंछ पक्षियों के उड़ने की गति में एकाएक ब्रेक लगाने का काम भी करती है। आकाश में उड़ते हुए किसी पक्षी को आपने देखा होगा कि एकाएक जब उसे रुकना होता है, तो वह अपनी पूंछ को नीचे कर लेता है।

पक्षियों की चोंच, पैरों की बनावट तथा पंजों के नाखुनों को देखकर सहज ही में उनके स्वभाव का पता लगाया जा सकता है। जिन पक्षियों की चोंच टेढ़ी और नुकीली एवं पैरों के नाखुन तेज़ होते हैं, ऐसे पक्षी अपना भोजन नोच-नोचकर खाते हैं। इस श्रेणी में तोता, चील, कौआ, बाज़ आदि हैं। दाना चुगनेवाले पक्षियों की चोंच मोटी होती है। किसी चीज़ को निगल जानेवाले पक्षियों की चोंच काफी लम्बी होती है, जैसे बगुला या कठफोड़वा आदि। पैरों के तेज़ नाखुनों से चिड़िया अपने शिकार को दबोच लेती है।

पक्षी गाते क्यों हैं ?—इस विषय में जांच-पड़ताल

करने पर पता चला है कि जब इनके हृदय में प्रसन्नता या क्रोध की मात्रा बढ़ जाती है, तभी ये चहचहाना शुरू करते हैं। वसन्तु ऋतु में पक्षी अपने जोड़े को तलाश में इधर-उधर घूमते हुए गाते रहते हैं, इसलिए इस मौसम में इनकी मीठी बोली हमें काफी प्रिय लगती है। मनुष्य जिस तरह अपनी भाषा द्वारा हृदय की बात दूसरों को समझा सकता है, उसी तरह पक्षियों की भी भाषा होती है। इनकी बोली सदा एक-सी नहीं होती। प्रसन्नता के समय और क्रोध या भय के समय इनकी बोली में हुए परिवर्तन को सुनकर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है।

हर देश में जलवायु और मौसम के अनुसार भिन्न-भिन्न रंग के पक्षी देखे जाते हैं। भारत में सितम्बर से अक्तूबर तक कई तरह के पक्षी आ जाते हैं जिन्हें पहले कभी नहीं देखा जाता है। कुछ ही महीने रहने के बाद ये पक्षी फिर अपने स्थान को, सैकड़ों-हज़ारों मील की दूरी को तय कर वापस लौट जाते हैं। हर पक्षी के उड़ने की रफ्तार एक-सी नहीं होती। बाज़ नामक पक्षी जहां सौ मील प्रति घंटे की रफ्तार से उड़ता है, वहां बतख पचास से सत्तर मील, कौआ साठ मील और अन्य पक्षी तीस से चालीस मील प्रति

घंटे की रफ्तार से उड़ सकते हैं। भोजन की तलाश में पक्षी स्थान-परिवर्तन किया करते हैं।

प्रारंभिक अवस्था में पक्षी अपने रहने के लिए घोंसलों का निर्माण नहीं करते थे। जब से पक्षियों
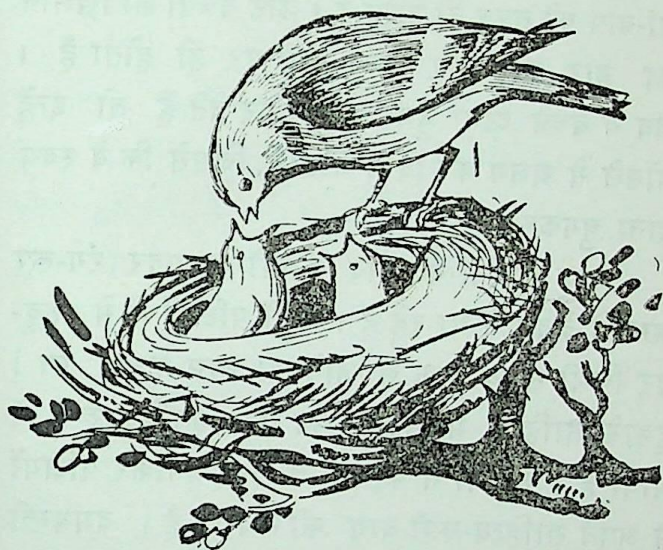
ने उड़ना सीखा, तब से घोंसलों के निर्माण का काम शुरू हुआ। घोंसलों का निर्माण अधिकांशतः नर और मादा दोनों पक्षी मिलकर करते हैं, लेकिन कई पक्षियों में इस काम को केवल मादा ही करती है। कई अपने अंडों को दूसरे पक्षियों के घोंसले में रख आते हैं।

अंडों से जिस समय बच्चे निकलते हैं, उस समय

उनकी शक्ल बड़ी भद्दी होती है। उनके शरीर पर पर नहीं होते हैं। उन बच्चों को देखकर यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि ये किस चिड़िया के बच्चे हैं। समय पाकर इन बच्चों का रंग-रूप अपने मां-बाप की तरह हो जाता है। छोटे बच्चों को खिलाने का भार अधिकतर मादा पक्षी पर ही होता है। जब ये बच्चे दाना चुगना शुरू कर देते हैं तो इन्हें घोंसले से अलग कर दिया जाता है, जिससे कि ये स्वयं दाना चुगकर खाएं।

आज हज़ारों वर्ष बाद पक्षियों के सुन्दर रंग-रूप आपको देखने में आ रहे हैं। इन्हीं पक्षियों में से कबूतर किसी समय डाक ले जाने का काम करता था। हमारे साहित्य में पक्षियों का वर्णन विविध रूपों में आया है। कवियों ने कल्पना के पंख लगाकर पक्षियों से अपने साहित्य-रूपी बाग को संवारा है। दमयन्ती ने नल के पास अपना संदेश हंस पक्षी द्वारा भेजा था। आज भी गांव के बीच किसी चौपाल में आपको 'तोता-मैना' की कहानियां सुनने को मिलेंगी। हमारे ग्रामीण भाई बड़े चाव से 'तोता-मैना' की कहानियां सुनते हैं। सिक्खों के दसवें गुरु गोविंदसिंह ने एक बहुत

सुन्दर बाज़ पाल रखा था, जिसके द्वारा वे संदेश भेजने का काम लेते थे। मिथिला के प्रसिद्ध विद्वान मंडन मिश्र के दरवाज़े पर एक तोता टंगा रहता था, जो पंडितों से शास्त्रार्थ किया करता था।

पतंग की कहानी

पतंग उड़ाना बच्चों का एक विशेष प्रिय खेल है। पतंग उड़ाने का मौसम आने के पूर्व से ही बच्चे इसके लिए तैयारी करना शुरू कर देते हैं। वे अपने पतंग उड़ाने के धागे को शीशे के पाउडर, गोंद, सरेस आदि से मंझाकर तेज़ करते हैं, ताकि उनका पतंग कटे नहीं, बल्कि अन्य पतंगों को काटकर गर्व से आकाश में उड़ता रहे, सच तो यह है कि पतंग उड़ाने से दृष्टि तेज़ होती है, एक प्रकार का व्यायाम भी हो जाता है और इसके साथ-साथ फुरसत के वक्त में पतंग उड़ाकर कुछ मौज भी की जाती

है। लेकिन यह सब फायदा कुछ ही देर पतंग उड़ाकर प्राप्त किया जा सकता है। दिन-भर पतंग उड़ाने के
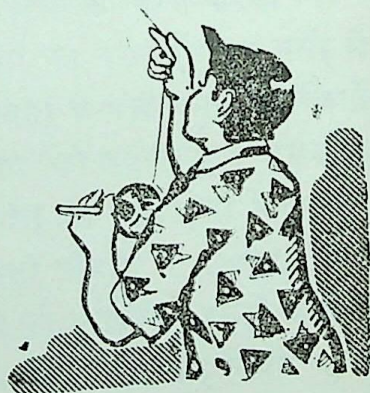
पीछे पड़े रहने से लाभ की जगह हानि की ही संभावना अधिक रहती है ।

लेकिन पतंग उड़ाना क्या सिर्फ बच्चों का ही प्रिय खेल है ? नहीं, कई देशों में तो विशेष दिन पर बड़े-बूढ़े एकत्र होकर पतंग उड़ाया करते हैं । बच्चों का यह प्रिय खेल होते हुए भी शायद बच्चे पतंग की मनोरंजक कहानी नहीं जानते होंगे । तो आओ, हम तुम्हें पतंग की कहानी बताएं ।

पतंग उड़ाने का शौक प्रायः संसार के सभी देशों में पाया जाता है । भारत में पतंग उड़ाने का प्रचलन मुसलमानी शासन के समय से हुआ, लेकिन कुछ लोग कहते हैं कि पुर्तगाली अपने साथ भारत में पतंग भी लाए । कहा जाता है कि जहांगीर को बचपन से ही कबूतर और पतंग उड़ाने का बड़ा शौक था । राजा बनने के बाद भी जहांगीर मौका पाकर अपने इस शौक को पूरा किया करता था । इसका यह मतलब नहीं कि मुसलमान शासकों ने ही पतंग का आविष्कार किया था। पतंग का आविष्कारक था—आर्चटेस। यह यूनान देश का रहनेवाला था । ईसा की चार सदी पहले ही, पक्षियों को आकाश में उड़ते देखकर इसने पतंग का निर्माण किया था । यह एक बड़ी मज़ेदार बात है कि

पतंग का जिस देश में जन्म हुआ, वहां अब पतंग उड़ाने का चलन उतना नहीं है, जितना कि एशिया के देशों में।

कई देशों में पतंग सिर्फ शौक के लिए नहीं उड़ाया जाता। इसके पीछे अनगिनत विश्वास और कहानियां हैं। न्यूज़ीलैंड के माओरी नामक आदिवासियों में यह विश्वास पाया जाता है कि पतंग उड़ाने से भूत-प्रेत भाग जाते हैं। इसलिए वहां के लोग पतंग उड़ाने के पूर्व अपने धार्मिक मन्त्रों का ज़ोर-ज़ोर से उच्चारण करते हैं। चीन देश के निवासियों में पतंग उड़ाने का इतना शौक पाया जाता है कि वहां प्रत्येक ९वें महीने के ९वें दिन को 'पतंग दिवस' मनाया जाता है। इस दिन रंग-बिरंगे पतंग उड़ाने में चीन की प्रायः समस्त जनता भाग लेती है। उनका विश्वास है कि इस दिन पतंग उड़ाने से शैतान और उसकी आत्मा वर्ष-भर पास नहीं आते। यही कारण है कि यहां का प्रत्येक आदमी 'पतंग-दिवस' में भाग लेता है। कोरिया की माताएं अपने बच्चों का नाम और जन्म की तारीख पतंग पर लिखकर उड़ाती हैं। उनका विश्वास है कि ऐसा करने पर देवताओं के दूत पतंग पर लिखे नाम को पढ़ लेते हैं और फिर उस बच्चे को कोई तकलीफ नहीं

होती। कई माताएं अपने बच्चों की आवश्यकता की चीज़ों का नाम भी पतंगों पर लिख देती हैं ताकि देवों के दूत बच्चे की आवश्यकता पूरी कर दें।

कोरिया में पतंग के सम्बन्ध में एक कहानी कही जाती है। एक था सेनापति। उसकी सेनाएं दुश्मनों से बराबर हार जाती थीं। सेनापति ने एक दिन रात को एक पतंग उड़ाया। पतंग के साथ उसने एक छोटी-सी रोशनी बांध दी। सेना ने समझा कि यह कोई देवता है। सेनापति ने अपनी सेना को बताया, 'यह तुम्हारी होनेवाली विजय का चिह्न है। देवता चिराग लेकर तुम्हें यह बता रहे हैं कि अगर अभी तुम लोगों ने दुश्मन पर चढ़ाई की, तो तुम्हारी विजय अवश्य होगी।' सेनापति की इस बात पर सेना में साहस आया और उसने दुश्मनों पर विजय प्राप्त की।

कोरिया, चीन, जापान तथा पूर्वी एशिया के दुकानदारों में यह रिवाज है कि जब कोई ग्राहक उनके यहां नहीं आता है, तो वे लोग पतंग उड़ाना शुरू कर देते हैं। उनकी यह धारणा है कि इस तरह ग्राहकों को पतंग उनकी दुकान तक खींच लाते हैं। अमेरिका में जो बच्चे बचपन में पतंग उड़ाना नहीं सीखते, उन्हें

अभागा समझा जाता है। अपने देश में पतंग उड़ाने की कहीं किसी भी शिक्षण-संस्था में शिक्षा नहीं दी जाती परन्तु तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि वाशिंगटन की बालचर-संस्था, बच्चों को पतंग उड़ाने की शिक्षा देती है। इस संस्था में बच्चे पतंग लड़ाने और शीशा पीसकर धागे को मांझा बनाना भी सीखते हैं।

१८०३ ई० में अमेरिका में पतंगों की एक प्रदर्शनी हुई थी। इस प्रदर्शनी में जोहर राज्य के सुल्तान ने १५ ऐसे पतंग भेजे थे, जो उस समय अन्य किसी भी देश में नहीं पाए जाते थे। इन्हीं पतंगों में से एक पतंग ऐसा भी था, जिसके उड़ते समय एक सुमधुर संगीत की ध्वनि निकलती थी और यह संगीत काफी दूर तक सुनाई देता था। इस सुमधुर संगीत को सुनकर लोग बरवस आकाश की ओर देखने लगते थे। ऐसे पतंगों का निर्माण बांस की पतली-पतली शलाकाओं से किया जाता था। इस पतंग के सुमधुर संगीत ने लोगों को इतना प्रभावित किया कि वे काफी कीमत चुकाकर पतंग खरीदने लगे और रात-दिन अपने घरों पर उड़ाते रहकर उसके संगीत का आनन्द उठाते थे। लोगों को यह विश्वास होने लगा कि पतंग के इस संगीत को

सुनकर भूत-प्रेत भाग जाते हैं। धीरे-धीरे यह विश्वास इतना बढ़ गया कि लोग दिन-रात, जाड़ा-गर्मी, बरसात अपने मकानों पर और खेतों में पतंग उड़ाकर रखने लगे।

तुम लोग अपने-अपने घरों में बिजली का प्रयोग बल्ब जलाने, रेडियो बजाने तथा अन्य कामों में लाते हो। इस बिजली की शक्ति का ज्ञान कराने में पतंग का ही हाथ है। बेंजामिन फ्रैंकलिन नामक एक वैज्ञानिक
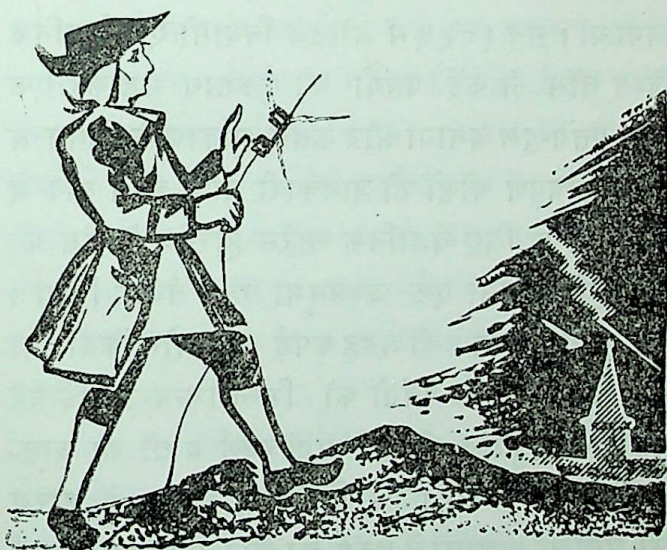
ने १७५२ ई० में पतंग उड़ाकर यह पता लगाया था कि आकाश में जब बिजली चमकती है, तो उससे बिजली की शक्ति प्राप्त की जा सकती है। उन्होंने पतंग उड़ाते समय धागे में एक चाभी बांध दी थी। फ्रैंकलिन के इस प्रयोग के बाद से १८वीं सदी से पतंगों का अधिक से अधिक वैज्ञानिक प्रयोग किया जाने लगा।

वायु का दबाव, तापमान, वायु की गति और वायु की दिशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यूरोप और अमेरिका में पतंग को ही व्यवहार में लाया जाने लगा था। सन् १८९५ में बोस्टन निवासी एक वैज्ञानिक जेम्स वीस ने कई पतंगों को एकसाथ उड़ाकर एक बड़ा पतंग-दल बनाया और उससे आकाश के विषय में कई महत्त्वपूर्ण चीज़ों की जानकारी प्राप्त की। बाद में इस कार्य के लिए वैज्ञानिक लारेंस हारग्रेव ने बांस की सलाइयों से बना एक बक्सनुमा पतंग तैयार किया। इस पतंग में कागज़ की जगह कपड़े का प्रयोग किया गया था। इस तरह के पतंगों को भिन्न-भिन्न ऊंचाई पर उड़ाकर ऋतुज्ञान की कई महत्त्वपूर्ण बातों की जानकारी प्राप्त की थी। २९ दिसम्बर, १९०५ में फारस की एक प्रयोगशाला ने पतंग को चार मील की ऊंचाई

तक उड़ाकर सबसे ऊंचाई पर ले जाने का विश्व रिकार्ड स्थापित किया था।

युद्ध के दिनों में पतंगों द्वारा कई ऐसे काम किए गए हैं, जिन्हें जानकर तुम आश्चर्य करोगे। किसी हल्की चीज़ को हवा में उड़ाने का सबसे आसान तरीका है पतंग। इसलिए दूर के सिगनल देना, झंडों की सूचना देना, प्रकाश-रूपी संकेत से सेनाओं को सूचना देना इत्यादि फौजी कार्यों में पतंग ने बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। दुश्मन के जहाज़ों पर पतंगों के सहारे बम भी छोड़ा गया है। पतंग के साथ छोटा-सा कैमरा लगाकर काफी ऊंचाई तक उड़ाकर दूर के स्थान का चित्र (जहां दुश्मन छिपे रहते हैं) लिया जाता था। इस काम के लिए बिजली के तार का सम्बन्ध कैमरे के साथ होता था। ब्रिटेन और अमरीका में ऐसे कई फोटो लिये गए और दुश्मनों को मार भगाया गया। सैनिक दृष्टि से पतंगों द्वारा ऐसे प्रयोग किए जाने पर कम खर्च और लाभ अधिक होने की संभावना रहती थी।

जून, १८६४ में स्काउट्स गार्ड संस्था के संस्थापक कैप्टन बेडन पावेल ने एक ३६ फुट ऊंचा पतंग बनाया और इसके द्वारा उन्होंने एक व्यक्ति को, विभिन्न अवसरों पर,

आकाश में उड़ाया। बाद में उन्होंने ऐसे पतंगों में कई सुधार किए और भारी से भारी पतंगों को सफलता-पूर्वक आकाश में काफी ऊंचाई तक उड़ाया। जिस समय हवा शांत रहती, उस समय भी इन पतंगों द्वारा मनुष्य को आकाश में उड़ाया जा सकता था। लेफ्टि-नेण्ट एच० डी० वाइज नामक एक अमरीकी व्यक्ति ने पहली बार एक मनुष्य को पतंग के सहारे चालीस फुट तक उड़ाया था।

हमारे देश में रंग-बिरंगे कागज़ों से बना पतंग उड़ाया जाता है। परन्तु अन्य कई देशों में भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों की आकृति का पतंग उड़ाया जाता है। हमारे देश के कई बादशाह और सम्मानित व्यक्ति पतंग उड़ाने में दिलचस्पी रखते थे। कहते हैं महाराजा रणजीतसिंह को पतंग उड़ाने का बड़ा शौक था। वसन्त के अवसर पर वे स्वयं दरबारियों को साथ लेकर पतंग उड़ाते थे और उनके पतंगों के साथ अपने पतंग लड़ाते भी थे। इस मौके पर जिसका पतंग दूसरों के पतंग काट देता था, उसे विशेष पुरस्कार दिया जाता था। हमारे देश में लखनऊ में जैसी पतंगबाज़ी होती थी, वैसी संसार में कहीं नहीं होती थी। टेलीफोन के आविष्कारक एलैक्जेण्डर ग्राहम बेल भी पतंग के एक

अच्छे-खासे शौकीनों में से थे।

पतंग की इस कहानी को पढ़कर तुमने बहुत कुछ जाना होगा और अब जब तुम पतंग उड़ाना शुरू करोगे, तो तुम्हें पतंग की यह सारी कहानी याद आ जाएगी।
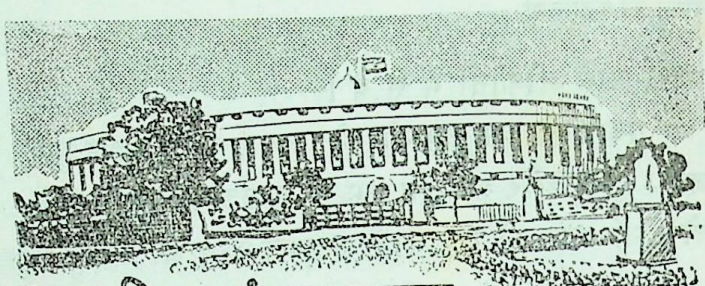
भारतीय संसद-भवन की कहानी

भारत १५ अगस्त, १९४७ को आज़ाद हुआ। हमारे देश के नेताओं ने स्वतंत्र भारत के लिए विधान बनाया और उस विधान का पालन २६ जनवरी, १९५० से होने लगा। प्रजातंत्र भारत के लिए जो विधान बना, वह भारतीय संसद-भवन में ही बना। आज भी भारतीय संसद-भवन में भारत के लिए विधान बनते हैं।

भारतीय संसद-भवन नयी दिल्ली की पार्लियामेंट स्ट्रीट में है। जिन बच्चों ने इसे नहीं देखा है या जो इसकी कहानी नहीं जानते, वे भारतीय संसद-भवन की इस कहानी को पढ़कर इस भवन के बारे में बहुत कुछ जान सकेंगे।

नयी दिल्ली के पार्लियामेंट स्ट्रीट में भारतीय संसद-भवन का विशाल एवं शानदार भवन है। आज से

करीब ३८ साल पहले, १२ फरवरी, सन् १९२१ में ड्यूक ग्राफ कनाट ने इस भवन की नींव रखी थी। छः साल के परिश्रम के बाद जब यह भवन बनकर तैयार हुआ, तो उस समय के वायसराय लार्ड इरविन ने १९२७ ई० की १८ जनवरी को बड़ी धूमधाम से इसका उद्घाटन किया। इस भवन का नाम पड़ा— 'कौंसिल हाउस'। इस विशाल भवन के निर्माण में ६ वर्ष लगे और लागत बैठी करीब ८३ लाख रुपये, जिनका आज का मूल्य चार करोड़ रुपये से अधिक है।

इस भवन का निर्माण अंग्रेज़ों के राज्य में हुआ परन्तु बनाने में चीफ इंजीनियर सर ह्यू कीलिंग के अतिरिक्त सभी कारीगर एवं ठेकेदार भारतीय थे। इस भवन के निर्माण में लगी वस्तुएं भारत के विभिन्न भागों से ही लाई गई थीं। इसके खम्भों में जो काले पत्थर लगे हैं, वह बिहार राज्य के गया ज़िले से एवं रंगीन तथा सफेद संगमरमर राजस्थान के मकराना से आए थे। इस भवन में लगी चिकनी और मजबूत लकड़ियां आसाम, दक्षिण भारत एवं बर्मा की देन हैं।

भारतीय संसद-भवन दूर से जितना प्रभावशाली दिखाई देता है, नज़दीक से उससे भी अधिक रोबदार

और विशाल। ज्योमेट्री के एक अनोखे आदर्श पर इस भवन का निर्माण किया गया है। यह भवन लगभग ६ एकड़ ज़मीन में फैला है। इसकी पहली मंज़िल पर खूब लम्बा-चौड़ा एक बरामदा है, जो भवन के चारों ओर है। इस भवन के सारे बरामदे में, एक ही दूरी पर १४४ खंभे हैं। हर खम्भा २७ फुट ऊंचा है।

भारतीय संसद-भवन का गुम्बद, जो बिना किसी खम्भे की सहायता पर बना है, आकार की दृष्टि से संसार का दूसरा बड़ा गुम्बद है। इसकी ऊंचाई ११० फुट तथा व्यास ९३ फीट ७ इंच है। इस गुम्बद के ठीक नीचे यानी इस भवन के बीचोबीच है—केन्द्रीय हाल। इस हाल में किसी भी आवाज़ की गूंज ५ सेकंड तक रहती थी। परन्तु अब उसको 'एस्बैस्टस फाइबर' से मढ़ दिए जाने के कारण आवाज़ की गूंज आधा सेकंड तक ही रहती है। केन्द्रीय हाल के चारों ओर खुले बड़े-बड़े सहन हैं। इनमें फिरोज़ी रंग के रत्नजड़ित सरोवरों से कई फव्वारे पानी उछालते रहते हैं जिसके कारण ये बहुत मनोरम लगते हैं।

इस भवन के आंगन में पहुंचते ही एक मूर्ति पर नज़र पड़ती है। यह मूर्ति सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के बचपन की है, जिसके नीचे हिन्दी एवं अंग्रेज़ी में लिखा

है—'बालक प्रजापाल चन्द्रगुप्त मौर्य भावी भारत-निर्माण की कल्पना में।'

जब लोकसभा का अधिवेशन शुरू होता है, तो इस भवन पर अशोकचक्र-मण्डित तिरंगा झंडा फहराने लगता है और तब इस भवन के बाहर पुलिस तथा सभागृहों में गुप्त संरक्षक एवं संगीनधारी पुलिस निगरानी किया करती है। इस भवन को अन्दर से देखने के लिए केन्द्रीय हाल से जाने में सुविधा रहती है। इस हाल में राज्यसभा और लोकसभा की संयुक्त बैठकें हुआ करती हैं। सभागृह में प्रवेश करते ही गांधी-जी तथा कस्तूरबा के भव्य तैलचित्र दिखाई देते हैं। अध्यक्ष महोदय की कुर्सी उच्चासन पर है। उनकी कुर्सी के ऊपर बिजली के अक्षरों में लिखा है—'धर्मचक्र-प्रवर्तनाय'।

केन्द्रीय हाल के घेरे के अन्दर पांच कमरे हैं, जो कांग्रेसी दल, विरोधी दल एवं संसद की महिला सदस्यों के लिए नियत हैं। इन कमरों में सदस्यों के विश्राम के लिए बड़ी अच्छी व्यवस्था है। इन्हीं कमरों के पास एक चिकित्सालय है, जहां सदस्यों को बिना मूल्य दवाइयां मिलती हैं। इस चिकित्सालय में सदस्यों की सुविधा के लिए आधुनिक साधनों से सम्पन्न सभी चीज़ों की

व्यवस्था है।

इस भवन में जहां लोकसभा का अधिवेशन शुरू होता है, वह कमरा अर्द्धवृत्ताकार है। इसका क्षेत्रफल ३६८८ वर्ग फुट है और इसमें ५३० सदस्यों के बैठने की व्यवस्था है। सदस्यों की कुर्सियां भी अर्द्धवृत्ताकार कतारों में हैं। इस कमरे में सदस्यों की सुविधा के लिए बीस माइक्रोफोन लगे हैं, जो इतने शक्तिशाली हैं कि १५ फुट की दूरी पर बोली गई धीमी से धीमी आवाज़ को भी ग्रहण कर लेते हैं। सदस्यों को भाषण देने के लिए कुर्सी से उठकर माइक्रोफोन के पास नहीं आना पड़ता है। वे अपनी जगह से ही बोलते हैं। सभा में बोले गए हर शब्द को, हर भाषण को सरकारी संवाददाता 'शार्टहैंड' में लिखते जाते हैं। अध्यक्ष के कुर्सी पर बैठते ही पहले घंटे में प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम होता है। इस समय खूब गरमागरम बहस होती है। सदस्य प्रश्न का नम्बर बोलते हैं। उस प्रश्न से सम्बन्धित मन्त्री उसका उत्तर देते हैं। उसके बाद अनुपूरक प्रश्नों की झड़ी लग जाती है। उसके पश्चात् लघुसूचना प्रश्न, स्थगन प्रस्ताव आदि का नम्बर आता है और इन सबके बाद ही असली काम-काज शुरू होता है।

अध्यक्ष महोदय की दाहिनी ओर कांग्रेसी दल के लोग बैठते हैं। इस दल के नेता होने के कारण प्रधान मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री पहले आसन पर बैठते हैं तथा उनके बाद अन्य मंत्रिगण। अध्यक्ष की बायीं ओर विरोधी दल के सदस्य बैठते हैं। पत्रकार, दर्शक एवं अन्य देशों के प्रतिनिधियों के लिए अलग-अलग स्थान हैं। दर्शकों की गैलरी में बैठकर नीचे नज़र डालें, तो भिन्न-भिन्न रंग की टोपियां नज़र आती हैं—क्योंकि सदस्यगण अपनी पार्टी द्वारा निर्धारित सफेद, लाल, भगवा, नीली टोपियां पहने बैठे रहते हैं।

दर्शकों की गैलरी में बैठते ही वहां के गोल वर्तुल में सुनहले अक्षरों में लिखे निम्नलिखित संस्कृत श्लोक पर दृष्टि पड़ती है—

'न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः।
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ॥
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति।
सत्यं न तद्यच्छलमभ्युपैति ॥'

अर्थात् जिसमें वृद्ध, ज्ञानी, तथा अनुभवी लोग न हों, वह सभा नहीं है। जो धर्म के अनुसार अपना मत नहीं देते वे वृद्ध नहीं हैं, जिसमें सत्य नहीं वह धर्म नहीं है, तथा जो कपट से व्याप्त है वह सत्य नहीं है।

भारतीय संसद-भवन के इस विशाल भवन में एक बड़ा पुस्तकालय है जिनमें एक लाख पच्चीस हज़ार के क़रीब पुस्तकें हैं। इसके अतिरिक्त भारत के विभिन्न राज्यों से पत्र-पत्रिकाएं, समाचारपत्र तथा अन्य सूचनाएं आती हैं, जिनसे सदस्यगण लाभ उठाते हैं। इस भवन में लोकसभा, राज्यसभा तथा केन्द्रीय हाल के अतिरिक्त ५०० छोटे-छोटे कमरे हैं, जो विभिन्न कार्यालयों एवं समितियों के दफ्तर के काम में लाए जाते हैं। इस भवन में रेस्टोरेण्ट तथा डाक एवं तारघर भी है।

भारत में विदेशों से जो अतिथि आते हैं, वे भारतीय संसद-भवन में एक स्थान पर भारत के नेताओं को एकत्र पाकर अपनी जिज्ञासा शान्त करते हैं। इसके अतिरिक्त सर्वसाधारण संसद के सस्दयों से पास लेकर दर्शक के रूप में इस संसद-भवन में आते हैं। उन्हें भारत के नेताओं को नज़दीक से देखने का अवसर मिलता है। वे उन कार्यवाहियों को भी देखते हैं, जिनके द्वारा भारत अपने विकास-पथ पर बढ़ रहा है।

२६ जनवरी की रात में रंग-बिरंगे बिजली के बल्बों से सजा भारतीय संसद-भवन देखते ही बनता है। दूर से ही यह अपनी शोभा बिखेरता है। इस भवन पर हर भारतीय को गर्व होना चाहिए।
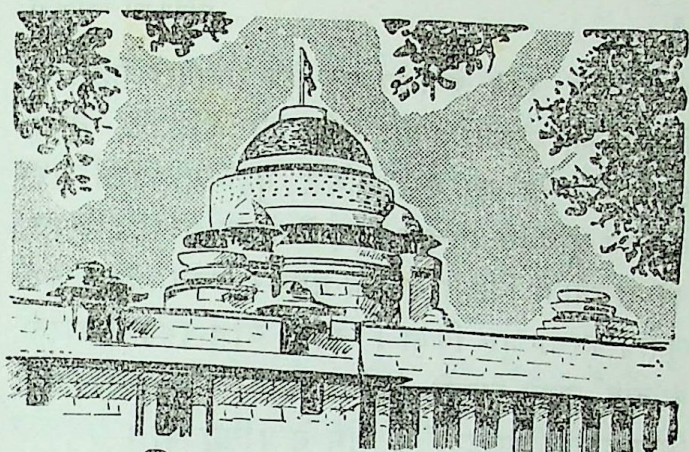
राष्ट्रपति-भवन की कहानी

यह तो आप जानते ही होंगे कि १५ अगस्त, १९४७ के दिन भारत को आज़ादी मिली। इससे पहले भारत में अंग्रेज़ों का शासन था, परन्तु अब देश का शासन हमारे देश के लोग ही चलाते हैं। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री तथा अन्य मंत्रीगण सभी भारतीय हैं और उन्हें देश की जनता ने ही यह पद दिया है।

अंग्रेज़ों का देश है ब्रिटेन, जिसकी राजधानी है लंदन। भारत में जिस समय अंग्रेज़ों का राज्य था, उस समय इंगलैंड से वायसराय या गवर्नर जनरल भारत की शासन-व्यवस्था चलाने के लिए हर पांच वर्ष पर आते थे। ये लोग बड़े ठाट-बाट से रहते थे,

अतः इनके रहने के लिए एक ऐसे शानदार महल के निर्माण की योजना बनाई गई, जो अद्वितीय हो। इसलिए इंग्लैंड का एक प्रसिद्ध गृहनिर्माणकर्ता सर एडविन लूथियंस, मार्च १९१२ में भारत आया। भारत की राजधानी दिल्ली में घूम-घूमकर उसने जगह का चुनाव करना शुरू किया। काफी जांच-पड़ताल करने के बाद उसने दिल्ली में जिस स्थान को चुना, वह 'रायसीना की पहाड़ी' के नाम से प्रसिद्ध था।

१९१४ ई० में यह विशाल भवन बनना शुरू हुआ परन्तु कुछ ही दिनों के बाद प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हो जाने के कारण इसका निर्माण-कार्य रोक देना पड़ा। १९१८ ई० में जब लड़ाई शान्त हुई, तो उसके दो वर्ष बाद १९२० ई० के ४ अगस्त से इसका निर्माण फिर से शुरू हुआ और ९ वर्षों के बाद यह बनकर तैयार हुआ। यह शानदार भवन पांच एकड़ ज़मीन पर खड़ा है और इसके बनाने में उस समय एक करोड़ सात लाख रुपये खर्च हुए थे। भवन-निर्माण के समय सारी वस्तुएं भारत के अन्य हिस्सों से एवं कुछ खास चीज़ें ईरान और इंगलैंड से मंगाई गई थीं।

आज़ादी के बाद भारत में जब प्रजातंत्र राज्य हुआ, तो इस भवन में भारत के प्रथम राष्ट्रपति

डा० राजेन्द्रप्रसाद रहने लगे और तब इस भवन का नाम 'वायसराय भवन' की जगह पड़ा—'राष्ट्रपति-भवन।' नयी दिल्ली में स्थित राष्ट्रपति-भवन की विशालता का परिचय आपको इन बातों से लगेगा। इस भवन में स्नानागार-सहित कुल ४४५ कमरे, ७४ दीर्घे, २२७ पत्थरों के गोल-गोल खंभे, ३७ फव्वारे, ११ लिफ्टें (बिजली से चलनेवाली सीढ़ी) और इतने अधिक गलियारे हैं कि कुल मिलाकर उनकी लम्बाई डेढ़ मील होगी। १८ जगहों पर चढ़ने के लिए सीढ़ियां बनी हैं। इसके अतिरिक्त कई बड़े-बड़े हाल जिनमें बेशकीमती शीशों के बने ७५ झाड़-फानूस लगे हैं। इस भवन में कुल मिलाकर रोशनी के लिए चार हज़ार पांच सौ बिजली के बल्ब और २९५ बिजली के पंखे लगे हैं। राष्ट्रपति-भवन के कमरों में रंग-बिरंगी, नक्काशीदार सुन्दर-सुन्दर आलमारियां, कुर्सियां, मेज़ें आदि हैं। राष्ट्रपति-भवन के अहाते में ९ फुट गहरा एक बहुत सुन्दर तालाब है जिसमें सदा स्वच्छ जल भरा रहता है। तालाब के दोनों ओर दो कमरे कपड़ा बदलने के लिए हैं जो ज़मीन के अन्दर हैं। इस भवन में एक बड़ा सिनेमा-हाल भी है।

राष्ट्रपति-भवन की बनावट ऐसी है कि सामने

से देखने पर दोमंज़िला मालूम पड़ता है और अगल-बगल से देखा जाए तो तीनमंज़िला दिखाई देगा। इस भवन के आगे एक सुन्दर, सुसज्जित दरबार-हाल है, जो इस भवन के बीच में पड़ता है। दरबार-हाल के ऊपर १८० फुट ऊंचा एक विशाल गुम्बद है जो काले रंग का है। इस गुम्बज के ऊपर २४ फुट लंबा एक मज़बूत डंडा लगा है जिसपर राष्ट्रपति का अपना झंडा फहराता रहता है। रात में उसी जगह पांच सौ वोल्ट पावर का लाल रंग का बल्ब जलता है। राष्ट्रपति जब इस भवन में रहते हैं तो झण्डा फहराता है, और जब कहीं राजकीय यात्रा पर जाते हैं तो झण्डे को उतारकर रख दिया जाता है।

राष्ट्रपति-भवन के सामने १३ एकड़ में फैला एक बड़ा मैदान है। मैदान के आगे लोहे का विशाल फाटक लगा है। फाटक के आगे चमचमाते हुई दो तोपें रखी हैं। इस मैदान में कई फव्वारे लगे हुए हैं और घास के चारों ओर लाल सुर्खी-बिछी सड़क है। तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि यह मैदान राष्ट्रपति-भवन की अपेक्षा दूसरी सतह पर बनाया गया है। इस मैदान में १३५ फुट लम्बा पत्थर का एक खम्भा है जिसपर ११ फुट लंबी धातु का बना तारे का चिह्न लगा हुआ है।

कहते हैं, जयपुर के महाराज ने तत्कालीन वायसराय को यह धातु का बना तारा भेंट किया था।

राष्ट्रपति-भवन की आकृति दो समानान्तर खड़ी रेखाओं के मध्य में एक सीधी खड़ी रेखा की तरह है। इसके बीच में पड़ता है—दरबार-हाल, जिसमें अब राष्ट्रीय म्यूज़ियम है और दूर-दूर के लोग इसे देखने आते हैं। अब इस हाल में कवि और शायर लोग भी आते हैं और उनकी गोष्ठियां होती हैं। इस हाल में पांच सौ व्यक्ति कुर्सियों पर बैठ सकते हैं। हमारे देश के नेताओं ने अंग्रेज़ों से भारत की बागडोर इसी दरबार-हाल में ली थी। दरबार-हाल के बाद १०८ फुट लम्बा और २८ फुट चौड़ा एक बैठकखाना है। इस बैठक में अब देश की समस्याओं पर विचार-विमर्श किया जाता है।

इस हाल के बाद ६६ फुट लम्बा और ६२ फुट चौड़ा बालरूम है जिसमें अब विदेशी अतिथियों को भारतीय नृत्य का कार्यक्रम दिखाया जाता है। इस विशाल कमरे की दीवारों पर की गई चित्रकारी देखते ही बनती है। इसी कमरे में घोड़े पर सवार महाराजा रणजीतसिंहजी की एक तस्वीर बनी है जिसकी खूबी यह है कि आप जिधर से इसे देखेंगे, यही

मालूम पड़ेगा कि तस्वीर की आंखें आपकी ओर हैं। इस कमरे की बगल में १०४ फुट लंबा और ३२ फुट चौड़ा राजकीय भोजन का कमरा है। इस कमरे में खाने की एक विशाल, चमचमाती मेज़ के दोनों ओर १०४ शानदार, बेशकीमती कुर्सियां लगी रहती हैं, जिन-पर १०४ आदमी एकसाथ बैठकर भोजन कर सकते हैं।

सुरक्षा की दृष्टि से राष्ट्रपति-भवन अद्वितीय है। धरती और धरती के नीचे की सतह पर चलनेवालों को यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि कौन-सा भाग ज़मीन के नीचे का है और कौन-सा भाग ऊपर का। राष्ट्रपति का मुगल-बाग दर्शनीय है। मुगल और इटालियन पद्धति पर बनाए गए इस बाग की शोभा बसन्त के मौसम में देखते ही बनती है। उस समय एक महीने के लिए यह बाग जनसाधारण के लिए खोल दिया जाता है। इस बाग की देखभाल करने के लिए करीब ढाई सौ माली काम करते हैं और वे सभी राष्ट्रपति-भवन में ही रहते हैं।

राष्ट्रपति-भवन में रहनेवाले कर्मचरियों के लिए पार्क, मैदान, बाग-बगीचे बने हैं। इसके अहाते में बाहर आध माल की दूरी पर राष्ट्रपति के अंग-रक्षकों के लिए कवायद करने, घोड़ों को दौड़ाने तथा

पोलो खेलने का मैदान पहाड़ की चट्टानों को काट-काटकर बनाया गया है।

आज़ादी के बाद से राष्ट्रपति-भवन की शोभा में सादगी का व्यवहार होने लगा है। फिर भी इसकी सुन्दरता में कोई कमी नहीं हुई है। सादगी के बाद भी यह सुन्दर है। जहां पहले इस भवन के कमरों को देखकर विदेशी चीज़ों की झलक मिलती थी अब वहां भारत के विभिन्न राज्यों में बनी चीज़ों को देखा जा सकता है। राष्ट्रपति-भवन के प्रत्येक कमरे में अब भारतीय संस्कृति के अनुरूप कलात्मक तस्वीरें लगाई गई हैं और हाथ की बनी हुई तोशकों, गद्दों, गलीचों, परदों आदि से इसे सजाया गया है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से राष्ट्रपति-भवन के कमरे भिन्न-भिन्न राज्यों की कलाकृतियों से सजाए गए हैं और एक-एक कमरे को एक-एक राज्य के अधीन कर दिया गया है, जैसे आसाम, बंगाल, बिहार, मद्रास, बम्बई, उत्तरप्रदेश, कश्मीर आदि। इन कमरों में उसी राज्य की हाथ से बनी चीज़ों को पाया जा सकता है। इन कमरों को देखकर उस राज्य का निवासी तुरन्त यह पहचान जाएगा कि यह कमरा उसीके राज्य का है।

विदेशों से जो राजदूत ग्राते हैं, वे हमारे राष्ट्रपति को अपना प्रमाणपत्र देने इसी राष्ट्रपति-भवन में ग्राते हैं। इस ग्रवसर पर एक समारोह किया जाता है। २६ जनवरी, १५ ग्रगस्त ग्रौर दिवाली के दिन रात में राष्ट्रपति-भवन को शोभा देखते ही बनती है। रंग-बिरंगे बिजली के बल्बों से ग्रालोकित राष्ट्रपति-भवन दूर से ही ग्रपनी छटा बिखेरता है। उस दिन दूर-दूर से लाखों लोग इसे देखने ग्राते हैं। तीन रातों तक रोशनी जलाई जाती है। इसके अतिरिक्त राष्ट्र-पति-भवन में हमारे राष्ट्रीय त्यौहारों का ग्रायोजन किया जाता है, जैसे होली, दशहरा, दिवाली, बक-रीद, मुहर्रम, क्रिसमस ग्रादि। इस ग्रवसर पर राष्ट्र-पति-भवन के सभी कर्मचारी ग्रपने परिवार-सहित राष्ट्रपति के निमंत्रण पर एकत्र होते हैं ग्रौर सभी को राष्ट्रपति ग्रपने हाथ से मिठाई देते हैं।

राष्ट्रपति-भवन में एक बहुत बड़ा प्रेस भी है जिसमे सैकड़ों कर्मचारी काम करते हैं। इस प्रेस का नाम है—भारत सरकार का प्रेस। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति-भवन में अपना एक ग्रलग पोस्ट-ग्राफिस भी हैं जिसका नाम राष्ट्रपति-भवन पोस्ट आफिस है।

रेल की कहानी
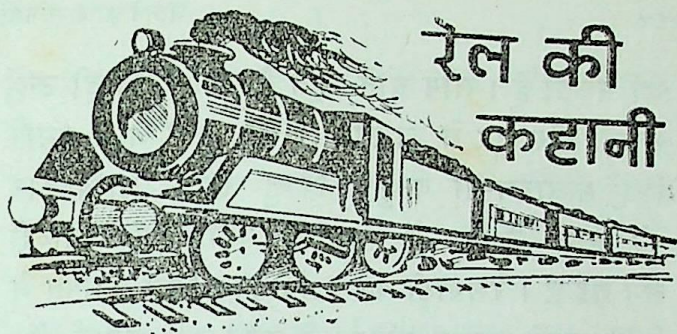
व्यापार और मनुष्य के आने-जाने की दृष्टि से रेलगाड़ी सबसे अधिक उपयोगी और आश्चर्यजनक आविष्कार है। परन्तु आज से करीब डेढ़ सौ साल पहले जब कभी किसीको यात्रा करनी पड़ती थी, तो वह पैदल, बैलगाड़ी या नाव द्वारा यात्रा किया करता था। यह यात्रा बड़ी कष्टदायक होती थी। रास्ते में पड़नेवाले जगलों में जंगली जानवरों का भय रहता था, तो कभी-कभी यात्री ठगों द्वारा लूट लिए जाते थे। इन्हीं सब कारणों से जल्द कोई यात्रा पर नहीं निकलता था। यात्रा से सकुशल लौट आने-वाले व्यक्ति को बड़ा सौभाग्यशाली समझा जाता था।

भारत में जब से रेल चलने लगी, तब से यात्रा के कष्टों का अंत होता गया। आज तो रेल द्वारा कुछ ही दिनों में भारत के हर राज्य में यात्रा की

जा सकती है। लोग सोते रहते हैं और रेलगाड़ी उन्हें सैकड़ों मील दूर ले जाती है। रेलगाड़ी आज हमारे लिए साधारण-सी वस्तु है, किन्तु इसके आविष्कार को आज के रूप में लाने में पूरी एक शताब्दी लग गई है। रेलगाड़ी का आविष्कार जिस व्यक्ति ने किया, उसने सचमुच दुनिया की बहुत बड़ी भलाई की।

रेलगाड़ी को इंजन खींचता है। यह इंजन भाप से चलता है। भाप का इंजन भी ऐसे नहीं बन गया। इस इंजन को बनाने में कई व्यक्तियों ने भाग लिया। जेम्स वाट नामक एक वैज्ञानिक को इसका विशेष रूप से श्रेय दिया जाता है। परन्तु जेम्स वाट की मृत्यु के बाद उसके बनाए गए इंजिन से प्रेरणा पाकर जॉर्ज स्टीवेन्सन ने भाप से चलने-वाले इंजन का आविष्कार किया।

भाप की शक्ति का पता सबसे पहले जेम्स वाट ने ही लगाया था और उसने भाप से चलनेवाले कई इंजनों का निर्माण किया, परन्तु रुपये-पैसे की कमी और स्वास्थ्य कमज़ोर होने के कारण जेम्स वाट अपने इंजिन को वह रूप न दे सका जिसकी उसने कल्पना की थी। जेम्स वाट ने जिस इंजन को बनाया था, उसमें कुछ सुधार किए जाने के बाद उन इंजनों

का प्रयोग पानी में चलनेवाले जहाज़ों में किया जाता है।

इंग्लैंड के न्यूकैसल शहर में एक व्यक्ति रहता था, जो वहां के कोयले की खान में मज़दूर का काम करता था। ९ जून, १७८१ ई० को इस मज़दूर के यहां एक लड़का पैदा हुआ जिसका नाम रखा गया—जॉर्ज स्टीवेन्सन। स्टीवेन्सन जब बड़ा हुआ, तो गरीबी के कारण वह पढ़-लिख न सका। पास के जंगलों में वह भेड़ और गायें चराता। कुछ दिनों के बाद जॉर्ज स्टीवेन्सन एक कोयले की खान के मालिक के यहां साईस बनकर काम करने लगा।

एक दिन जॉर्ज स्टीवेन्सन की नज़र खान में भरे पानी को उलीचनेवाले यंत्र पर पड़ी। उसने देखा कि भाप की शक्ति से चलनेवाला वह यंत्र बड़ी तेज़ी से पानी बाहर फेंक रहा है। स्टीवेन्सन को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा, क्या कारण है कि कोयले के ताप पर पानी उबालने से बनी भाप इस यन्त्र में इतनी ताकत ला देती है कि यह हज़ारों मन पानी खान के भीतर से बाहर फेंक देता है। उसने भली भांति उस यंत्र को निहारना शुरू किया। कुछ ही दिनों में वह उस यंत्र के पुर्ज़े-पुर्ज़े से परिचित हो

गया और उसके काम को अच्छी तरह समझ गया।

संयोगवश एक दिन उस यंत्र में कुछ खराबी आ गई। यंत्र ने काम करना बन्द कर दिया। जॉर्ज स्टीवेन्सन ने यंत्र की खराबी को बात की बात में ठीक कर उसे चालू कर दिया। लोग हैरान रह गए। तब से साईस की जगह उसे उस यंत्र की देख-भाल का काम सौंपा गया। उसका वेतन भी बढ़ गया।

नौकरी में इस तरक्की के कारण जॉर्ज ने पढ़ना-लिखना शुरू किया और बचे हुए समय में जूतों की मरम्मत कर कुछ पैसे भी कमाने लगा। उसे एक ही धुन सवार थी कि पढ़-लिखकर और ज़्यादा पैसे कमाकर, भाप से चलनेवाली ऐसी गाड़ी बनाऊं जो बोझा लेकर चल सके। पैसे कमाने की नीयत से जॉर्ज स्टीवेन्सन स्काटलैण्ड चला गया और कुछ ही वर्षों में काफी धन कमाकर अपने गांव लौट आया। जॉर्ज ने इस बार कोयले की एक दूसरी खान में नौकरी कर ली। इस खान में भी पानी निकालने का एक यंत्र लगा था, परन्तु काफी पुराना होने के कारण वह यंत्र ठीक से काम नहीं करता था।

एक दिन जॉर्ज ने खान के मालिक के सामने

उस यंत्र को खोलकर उसकी खराबियां दूर कर दीं। अब वह यंत्र ठीक से काम करने लगा। जॉर्ज की इस सफलता ने उसे कोयले की खानों में लगे सभी यंत्रों की देखभाल का अफसर बना दिया। उसका वेतन भी बढ़ गया। अब स्टीवेन्सन का पुत्र राबर्ट बाप को पढ़ने में मदद करता था। इसी समय लड़ाई छिड़ जाने के कारण कोयले की खानों में कोयला ढोनेवाले घोड़ों का अकाल पड़ गया, क्योंकि लड़ाई में घोड़ों की ज़रूरत आ पड़ी थी। साथ ही साथ घोड़े का चारा बड़ा महंगा और बड़ी मुश्किल से मिलने लगा।

जॉर्ज ने मौके से लाभ उठाया। वह कोयला ढोनेवाले इंजन के निर्माण में जी-जान से लग गया। पांच वर्षों के प्रयास के बाद वैस्ट-मूर की खान में स्टीवेन्सन ने अपना पहला इंजन बनाया, जो बिना किसी घोड़े की सहायता से खान के भीतर लोहे की पटरी पर चलता था और करीब डेढ़ हज़ार मन कोयले का बोझ खींच लेता था। इस इंजन के बनते ही जॉर्ज स्टीवेन्सन का नाम इंग्लैंड में चारों ओर फैल गया।

अब जॉर्ज स्टीवेन्सन ने नौकरी छोड़ दी और इंजन बनाकर बेचने लगा। उसने पांच इञ्जन बनाकर कोयले की खान के मालिकों के हाथ बेचे भी।

२७ सितम्बर, १८२५ ई० की मंगलवार को स्टीवेन्सन ने एक बड़ा इंजन बनाया। हज़ारों लोगों की भीड़ के सामने जॉर्ज ने उस इंजन को चलाकर दिखाया। संसार की सबसे पहली रेलगाड़ी को तेज़ी से दौड़ते देखकर सभीके मुंह पर आश्चर्य और आनन्द छा गया।
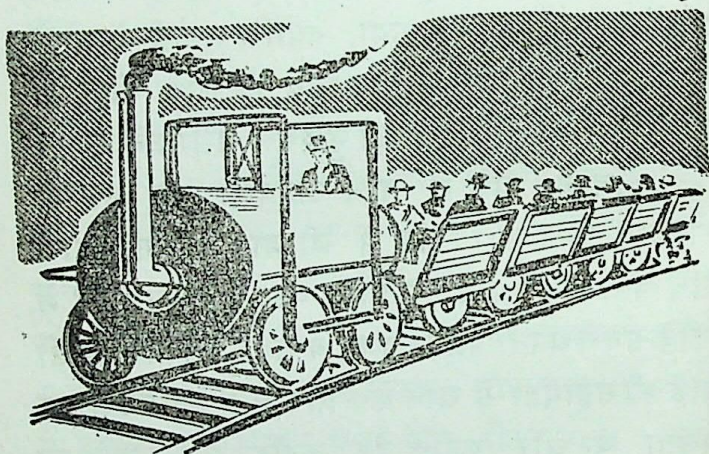
संसार की पहली सवारी रेलगाड़ी में मालगाड़ी के ६ डिब्बे थे, जिनमें आटा और कोयला भरा हुआ था। यह गाड़ी बारह मील प्रति घण्टे की चाल से चलती थी। यह रेलगाड़ी चलते समय लोगों को भय-भीत कर देती थी, क्योंकि लोग समझते थे कि यह

कोई राक्षस है। इसलिए जब यह रेलगाड़ी चलती थी, तो घोड़े पर सवार हो एक आदमी हाथ में लाल झण्डा लेकर इसके आगे-आगे चलता था। कई बार इस गाड़ी के आगे कई पशु बैठ जाते थे, जिन्हें बड़ी मुश्किल से हटाया जाता था। इस रेलगाड़ी में कोयले की जगह लकड़ी जलाई जाती थी। रास्ते में जब लकड़ी खत्म हो जाती, तो लोग तुरंत जंगलों से लकड़ी काटकर ले आते और यदि पानी खत्म होता, तो पानी भी ढूंढ़ लाते थे।

संसार में सबसे पहले १८२५ ई० में इंग्लैंड में रेल चली और तब से आज तक सभी देशों में रेल की लाइनों का जाल बिछ गया है। रेल ने आज इतनी उन्नति कर ली है कि कोयला-पानी के सिवा वह बिजली और डीज़ेल तेल से भी चलने लगी है। जेम्स वाट और जॉर्ज स्टीवेन्सन ने अपना इञ्जन बनाते समय कभी यह कल्पना भी न की होगी कि एक दिन उनके बनाए इञ्जन के लिए समस्त पृथ्वी पर करीब आठ लाख मील लोहे की पटरियों की सड़कें बिछ जाएंगी।

अब ज़रा आप रेलगाड़ी के कल-पुर्ज़ों के विषय में भी कुछ जान लें। रेलगाड़ी के इञ्जन के ऊपर के कोठे में पानी गरम होता है। पानी के गर्म होने पर

जो भाप बनती है, वह नल में से गुज़रती हुई पहिये के समान बेलनाकार बर्तन में एक तरफ से प्रवेश करती है। यह भाफ इस बर्तन में लगी हुई डाट को आगे धकेलती है, फिर भाप इसी बर्तन में पीछे को आती है। इससे वह डाट पीछे जाता है। इस प्रकार डाट आगे-पीछे चलता रहता है। इसके साथ लगी हुई लोहे की छड़ इञ्जन के पहिये को चलाती है। आज भी जो बड़े-बड़े रेल के इञ्जन चलते हैं, उनमें भी यही होता है।

अब हम भारतीय रेलों के विषय में कुछ बताएंगे। हमारे देश में अब तक रेलों में ६ अरब ७४ करोड़ रुपये खर्च हो चुके हैं और देश में रेलों के आने-जाने के लिए करीब सत्तावन हज़ार किलोमीटर रेल की पटरी बिछी हुई है। भारत में ६,४६० रेलवे स्टेशन हैं। इसके अतिरिक्त बराबर नयी-नयी जगहों पर रेलवे लाइन का विस्तार किया जा रहा है। यह तो आप जानते ही होंगे कि देश की उन्नति के लिए पञ्चवर्षीय योजनाएं बनी हैं। इन योजनाओं को पूरा करने के लिए भारतीय रेलों से भरपूर सहायता मिलती है और भविष्य में भी मिलेगी। सामान लाने और ले जाने में भारतीय रेलें महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं।

देश की ज़रूरत को ध्यान में रखकर बंगाल और बिहार राज्य की सीमा पर चित्तरंजन में रेल के इञ्जन बनाने का एक विशाल कारखाना खोला गया है। इस कारखाने ने पहली पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक ३३७ इञ्जन बनाए हैं। अब इस कारखाने में प्रति वर्ष लगभग २०० इंजन बनकर तैयार होते हैं। इस कारखाने में पहला इंजन १ नवम्बर, १९५० को तैयार हुआ था, जिसका उद्घाटन हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने किया था। अब इस कारखाने में बिजली से चलनेवाले इंजनों का उत्पादन भी शुरू कर दिया गया है।

देश की आमदनी बढ़ाने में अगर सबसे बड़ा सहायक कोई है तो वह भारतीय रेल ही है, जिसकी उन्नति बराबर होती जा रही है।

राकेट की कहानी

वैज्ञानिकों ने हवाई जहाज़ का आविष्कार कर जब आकाश में उड़ने की अपनी अभिलाषा पूरी कर ली, तो उन लोगों के दिमाग में आया कि अब कोई ऐसा यंत्र बनाया जाए जिसके द्वारा पृथ्वी की आकर्षणशक्ति से परे, बाह्य अन्तरिक्ष की यात्रा की जा सके। हवाई जहाज़ द्वारा यह यात्रा संभव नहीं है क्योंकि साधारण हवाई जहाज़ वायुमंडल में ही चल सकते हैं। आज के सबसे शक्तिशाली और तेज़ रफ़्तार वाले जेट नामक हवाई जहाज़ का ईंधन भी उसी समय तक जल सकता है जब तक उसे आक्सीजन मिलती रहे। इसलिए वायुमंडल से परे अन्तरिक्ष में जेट हवाई जहाज़ भी नहीं जा सकता। अन्तरिक्षयात्रा के लिए राकेट को ही चुना गया, क्योंकि राकेट को बाहर से न तो वायु

चाहिए और न आक्सीजन ही ।

राकेट आज के युग की कोई नयी देन नहीं है । है । हां, इतना कह सकते हैं कि आज के राकेटों द्वारा कई ऐसे काम किए गए हैं, जो पहले कभी नहीं हुए थे । ईसा के कई सौ वर्ष पूर्व चीन में राकेट का प्रयोग आतिशबाज़ी के रूप में होने लगा था । भारत में टीपू सुल्तान द्वारा अंग्रेज़ों पर राकेट छोड़े जाने का हवाला मिलता है । अंग्रेज़ों के समय में जब अचूक निशाने वाली बन्दूकों का आविष्कार हुआ, तो राकेट का प्रयोग कम होने लगा ।

प्रथम महायुद्ध (१९१४ से १९१८ ई० तक) में एक अमेरिकन युवक राबर्ट एच० गौडार्ड ने गम्भीरता से राकेटों का अध्ययन प्रारम्भ किया था जिसके फलस्वरूप राकेटों का खूब प्रयोग हुआ । उस समय वायुयानों और समुद्री जहाज़ों से [illegible] फेंके जाने लगे थे ।

दूसरे महायुद्ध के समय (१९३९ से [illegible] तक) राकेट का सैनिक महत्त्व बढ़ गया । उस समय राकेटों से विस्फोटक वस्तुएं बहुत दूर-दूर तक ले जाने का घातक कार्य किया जाने लगा । जर्मनी ने वी-२ नामक ४० फुट लम्बे एवं १४ टन भारी राकेटों का

को उछालेंगे, वह उतनी ही ऊंची जाएगी। पृथ्वी की आकर्षणशक्ति को व्यर्थ करने के लिए, अर्थात् गेंद को सदा चलती रहने और पृथ्वी पर कभी न लौटने देने के लिए हमें गेंद को कम से कम पच्चीस हज़ार मील प्रति घण्टे की रफ़्तार से ऊपर फेंकना होगा।

गेंद को इस रफ़तार से ऊपर फेंकना किसी भी खिलाड़ी के लिए सम्भव नहीं है। संसार में सबसे ऊपर गेंद उछालनेवाला अमेरिकन खिलाड़ बॉब फेलर गेंद को अधिकतम एक सौ मील की चाल से फेंक सकता था। अतः ऐसी दशा में किसी भी चीज़ को पृथ्वी की आकर्षणशक्ति से ऊपर ले जाने में राकेट ही सहायक हो सकता है क्योंकि राकेट द्वारा जब कोई चीज़ छोड़ी जाती है, तो उसके पहले धक्के से वह चीज़ करीब-करीब पृथ्वी की आकर्षणशक्ति से बाहर चली जाती है और जहां उसके ऊपर उठने की गति में कमी हुई, त्योंही राकेट के दूसरे भाग से धक्का पाकर वह और ऊपर चली जाती है और तब तीसरे धक्के में वह चीज़ अन्तरिक्ष में पहुंच जाती है। आज के राकेटों की गति बारह हज़ार से सोलह हज़ार मील प्रति घण्टा है।

राकेटों के लिए वैज्ञानिक लोग एक ऐसे ईंधन के

आविष्कार में लगे हैं, जो कम से कम मात्रा में राकेट में रखने पर भी उसकी गति में कमी न लाए। क्योंकि आज के राकेटों में जितना ईंधन रखा जाता है उससे उसका भार बढ़ जाता है। जिस समय वैज्ञानिक लोग ईंधन की समस्या हल कर लेंगे, उस दिन राकेट की प्रगति का एक नया इतिहास होगा।

विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ, आज का राकेट भी काफी उन्नत हो गया है। रूस और अमरीका ने अपने राकेटों की सहायता से ही भू-उपग्रह छोड़े हैं। रूस ने सबसे पहले चन्द्रमा पर अपने राकेट भेजकर राकेट विज्ञान में बाज़ी मार ली। रूस ने राकेट द्वारा लिए गए चन्द्रमा के उस हिस्से के फोटो को पहली बार दुनिया

के लोगों के सामने रखा, जिसे आज तक कभी नहीं देखा गया था। रूसी वैज्ञानिकों ने अपने दूसरे

भू-उपग्रह में लायका नामक एक कुतिया को अन्तरिक्ष में भेजा था, ताकि यह पता चल सके कि अन्तरिक्ष में जीवित प्राणियों की क्या दशा व प्रतिक्रिया होती है। अब तक कई रूसी और अमरीकी अन्तरिक्षयात्री पृथ्वी की परिक्रमा कर चुके हैं। इनके अन्तरिक्षयान राकेटों के सहारे ही अन्तरिक्ष में पहुंचे।

चन्द्रमा पर राकेट के पहुंचने से अब निकट भविष्य में चन्द्रलोक की यात्रा का स्वप्न साकार होकर रहेगा। वह दिन दूर नहीं जब राकेटों द्वारा मनुष्य चन्द्रलोक की यात्रा कर सकेगा। निःसन्देह वह दिन मानव-निर्मित राकेट की सबसे बड़ी सफलता का दिन होगा। राकेट ही एक ऐसी शक्ति और साथ ही एक ऐसा यान है, जो मनुष्य के चन्द्रलोक-यात्रा के स्वप्न को सफल बना सकता है। देखें, वह कौन सौभाग्यशाली है, जिसके चरण सबसे पहले चांद पर पड़ेंगे!

आपने थर्मामीटर तो अवश्य देखा होगा। थर्मामीटर का प्रयोग किस काम में होती है, यह भी आप जानते ही होंगे। लेकिन क्या आप यह जानते हैं कि थर्मामीटर को किसने, कब और कैसे बनाया ; आज के थर्मामीटर और पहले के थर्मामीटर में क्या अन्तर है ? निश्चय ही यह आपको मालूम न होगा। तो लीजिए, थर्मामीटर की इस कहानी को पढ़िए और उसके विषय में बहुत-सी बातें जानिए।

आज से करीब सौ साल पहले चिकित्सा-विज्ञान उतना उन्नत नहीं था, जितना आज है। उस समय जब कोई व्यक्ति बुखार से पीड़ित रहता था, तो उसके शरीर का तापमान बतानेवाले किसी यन्त्र की जानकारी किसी भी डाक्टर को नहीं थी । शरीर के तापमान और उसके रोगों के सम्बन्ध में पूरी जांच-पड़ताल अगर किसीने की, तो वह था लिपजिग नामक स्थान का एक चिकित्सा-शास्त्री—आगस्ट्स वण्डरलिच । इस व्यक्ति ने २५ वर्षों के भीतर करीब एक लाख रोगियों

के शरीर के तापमान का अध्ययन किया था और अपने इस अध्ययन की बदौलत इस डाक्टर ने घोषणा की कि 'बुखार का आना, आनेवाले रोग की सूचना है।'

सन् १६२४ ई० में फादर ल्यूरेचन द्वारा लिखित पुस्तक में 'थर्मामीटर' शब्द का नाम आया है। इस पुस्तक में जिस थर्मामीटर का ज़िक्र आया है, उसमें पारे का प्रयोग नहीं होता था। उस थर्मामीटर की शक्ल एक लट्टू और नली-युक्त यन्त्र की तरह थी।

१५६२ ई० में इटली-निवासी गैलीलियो ने एक ज्वरमापक यन्त्र बनाया था। इसीके कारण थर्मामीटर के जन्मदाता के रूप में गैलीलियो का नाम प्रसिद्ध है। परन्तु गैलीलियो का बनाया हुआ थर्मामीटर सैंक्चोरियस के बनाए गए थर्मामीटर के मुकाबले में कम प्रभावशाली था। गैलीलियो ने थर्मामीटर-सम्बन्धी जिस कार्य को अधूरा छोड़ रखा था, उसे सैंक्चोरियस ने ही पूरा किया। सैंक्चोरियस ने ही सबसे पहले यह निश्चय किया कि मनुष्य के शरीर में सदैव एक निश्चित तापमान बना रहता है।

शुरू में बननेवाले थर्मामीटरों में सबसे बड़ा दोष यह था कि दो थर्मामीटर एक-समान तापमान नहीं बतलाते थे। ऐसा होने का कारण यह था कि

थर्मामीटर का मानदंड क्या हो, इसपर आविष्कारक एकमत नहीं थे। १७१४ ई० में जर्मनी-निवासी डेनियल जिब्राइल फारेनहाइट ने सबसे पहले शून्य अंश से लेकर १०० अंश तक का तापक्रम थर्मामीटरों में निश्चित किया। उसी व्यक्ति ने शरीर का तापमान लेने के लिए थर्मामीटरों में पहले-पहल पारे का प्रयोग किया था।

१८३५ ई० में फ्रांस के दो वैज्ञानिकों श्री बेक्वेटल और श्री ब्रेखेत ने अपने प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि साधारणतः एक स्वस्थ एवं नीरोग व्यक्ति के मुख का तापमान ९८.५ अंश तक होता है और ज्वर बढ़ने पर शरीर का तापमान १०५ अंश तक पाया जा सकता है।

इतने विकास के बाद भी, उस समय का थर्मामीटर आज के थर्मामीटरों की तरह नहीं हुआ करता था। उस समय थर्मामीटरों की लम्बाई १० इंच से १६ इंच तक होती थी और डाक्टर जब किसी रोगी को देखने जाते थे, तो थर्मामीटर को छड़ी की तरह हाथ में लेकर चलते थे। रोगी के शरीर का तापमान लेने के लिए इन थर्मामीटरों को लगभग ५ मिनट तक मुंह में लगाना पड़ता था।

इन सब असुविधाओं के बावजूद ब्रिटेन के अस्पतालों में १८६६ ई० से और अमेरिका के अस्पतालों में १८७०ई० से थर्मामीटरों का प्रयोग आरंभ हो गया था। आज जिन छः इंच के जेबी थर्मामीटरों को आप देखते हैं, इनका आविष्कार हुए अभी सौ साल से अधिक समय नहीं हुआ है। जेबी थर्मामीटर के आविष्कर्ता थे सर टामस क्लिफोर्ड आलबट, जो इंगलैंड के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में चिकित्साशास्त्र के प्रोफेसर और प्रसिद्ध डाक्टर थे। १८६७ में उन्होंने पहले-पहल यह जेबी थर्मामीटर तैयार किया, जो डेढ़ मिनट में रोगी के शरीर का तापमान बता सकता था।

अब मैं थर्मामीटर की बनावट के सम्बन्ध में कुछ बताऊंगा कि शरीर की गर्मी पाकर इसका पारा कैसे आगे बढ़ता है। थर्मामीटर की घुण्डी, जिसमें पारा भरा होता है, बहुत छोटी और नाज़ुक होती है। घुण्डी से ऊपर एक मोड़ या रुकावट होती है। पारा इसमें गरम होने पर स्वयं ऊपर चढ़ सकता है, परन्तु नीचे नहीं उतर सकता। थर्मामीटर में पारे का प्रयोग होने से कई लाभ हैं—(क) यह आसानी से शरीर का ठीक-ठीक तापमान बताता है। (ख) अपारदर्शक और चमकीला होने के कारण थर्मामीटर

की नली में यह सुगमता से दिखाई देता है। (ग) यह थर्मामीटर की नली की दीवाल से सटता नहीं है। इसे पुनः व्यवहार में लाने के लिए थर्मामीटर को झटका देकर पारे को डाट से नीचे उतारा जाता है। (घ) पारा शरीर की गर्मी पाकर तेज़ी से फैलता है और ताप को शीघ्र ग्रहण करता है।

डाक्टरों के जेबी थर्मामीटर का अंकन फारेन-हाइट स्केल से होता है और इसकी माप का क्षेत्र ९५ अंश फारेनहाइट से ११ अंश फारेनहाइट तक ही होता है और प्रत्येक अंश के पांच भाग होते हैं।

अब आप यह जानना चाहेंगे कि थर्मामीटर द्वारा रोगी के शरीर का तापमान लेने से क्या फायदा है? रोगी के शरीर का तापमान डाक्टरों को बहुत ही महत्त्वपूर्ण सूचनाएं देता है। तापमान को देखकर ही डाक्टर यह निर्णय करता है कि जिन दवाओं को वह रोगी को दे रहा है, उससे उसे लाभ पहुंच रहा है या नहीं। इसके अतिरिक्त रोगी के शरीर का तापमान टायफाइड, न्यूमोनिया, क्षय (टी० बी०) आदि भयंकर रोगों की पहचान में बड़ी मदद करता है।

○ ○ ○

मुद्रक : राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स, दिल्ली-६ 5-64-9-2